



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६०,०००

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-कर नवनीत लिये नटनागर [कविता]	१९७
२-कल्याण ('शिव')	... १९८
३-ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश	... १९९
४-कोई कुछ भी कहें [संकलित पद्य] (श्रीमाधव)	... १००२
५-प्रेमरस और अनन्त प्रकाश (बाबा श्री- दीनशरणदासजी)	... १००३
६-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन	... १००७
७-आत्मनिवेदनपर एक दृष्टि (प्रो० श्रीराधेश्यामजी रस्तोगी)	... १०११
८-बस, केवल तुम्हीं हो [कविता]	... १०१५
९-गांधी-शताब्दीके मङ्गलप्रसङ्गमें गांधीजीकी दिव्य वाणी	... १०१६
१०-पागलकी शोली (महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी)	... १०२१
११-सच्चा साम्राज्य (पण्डित श्रीजानकी- नाथजी शर्मा)	... १०२५

कल्याण, सौर श्रावण २०२६, जुलाई १९६९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१२-एक लाख रुपयेके मूल्यका कीमती श्लोक (डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, विद्याभूषण, दर्शन-केशरी)	... १०२९
१३-क्या न करो, क्या करो [कविता]	... १०३७
१४-श्रीराम (श्रीकाशीनाथजी शर्मा, एम० ए०, डिप० इन्० एड्०, साहित्यरत्न)	... १०३८
१५-भगवान् राम और सीताका जीवनदर्शन (श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी)	... १०४१
१६-स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाका लोकोत्तर व्यक्तित्व (पं० श्रीदेवधरजी शर्मा)	... १०४३
१७-खान-पानकी पवित्रतापर स्वामी श्री- विवेकानन्दके विचार (श्रीजयदयालजी डालमिया)	... १०४५
१८-शुद्ध आहारकी महिमा [कविता]	... १०४६
१९-कामके पत्र	... १०४७
२०-पढ़ो, समझो और करो	... १०५१



चित्र-सूची

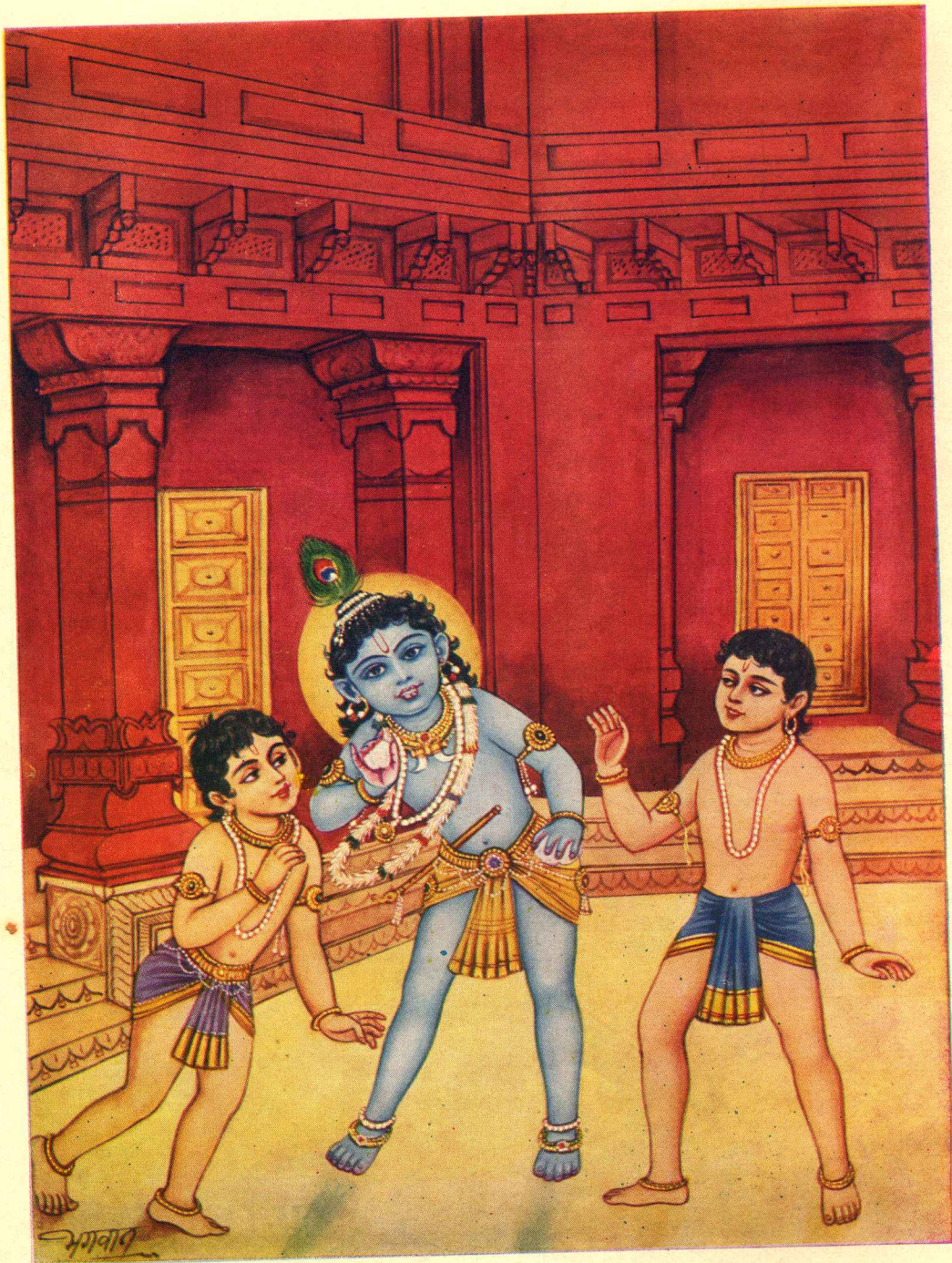
१-ध्यानस्थ शंकर	(रेखाचित्र)	... मुखपृष्ठ
२-कर नवनीत लिये नटनागर	(तिरंगा)	... १९७



वार्षिक मूल्य भारतमें १.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पै०
विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) } विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

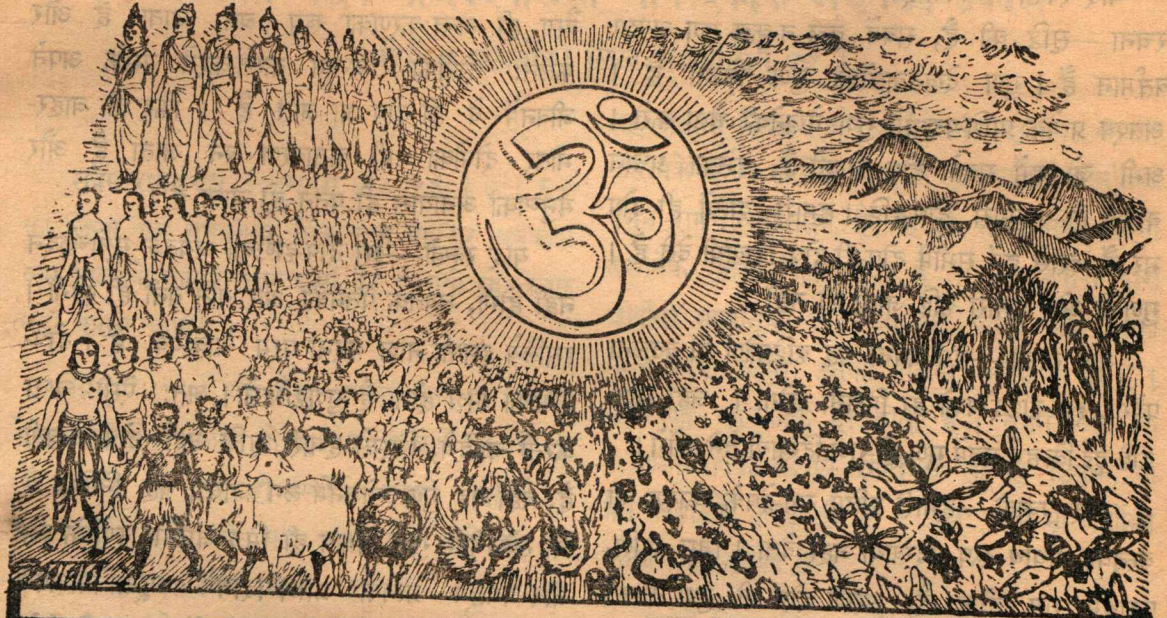
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्पनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



कर नवनीत लिये नटनागर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३

}

गोरखपुर, सौर श्रावण २०२६, जुलाई १९६९

}

संख्या ७

पूर्ण संख्या ५१२

कर नवनीत लियै नटनागर ।

मधुर सरल सिसुभाव सखनि सँग निरतत निरवधि सर्वसुखाकर ॥

कटि कछनी मुरली मधु खोंसे, कुंचित केस मयूर पिच्छधर ।

कटुला कंठ बघनखा सोहत, वाजूबंद हार दुति मनहर ॥

मधुर नयन मोहत मुनि-जन-मन, कुंडल रत्न स्रवन अति सुंदर ।

तिलक भाल सुषमा अनुपम छवि जन-चकोर-दृग-हरन सुधाकर ॥

कल्याण

याद रखो—भगवान् ने जितने भी प्राणि-पदार्थों की रचना—सृष्टि की है, सबमें कुछ-न-कुछ गुण अवश्य वर्तमान हैं। गुण देखनेवालोंको गुण मिलते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणि-पदार्थमें गुण देखनेकी चेष्टा करो। अभी जो हमें सबके दोष दीखते हैं, इसका प्रधान कारण है—हमारी दोष-दृष्टि। हमारी दृष्टिमें ही दोष भरे हैं, इससे हमें सभीमें दोष-ही-दोष दिखायी देते हैं। गुणकी ओर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं।

याद रखो—हमें अपना यह दृष्टिकोण ही बदलना पड़ेगा, इस दृष्टिदोषको ही मिटाना होगा। जहाँ गुण-दृष्टि हुई कि हमें सबमें गुण-ही-गुण दिखायी देने लगेंगे।

याद रखो—हमारी दृष्टिमें राग-द्वेषके कारण भी वस्तुका यथार्थ रूप दिखायी नहीं देता। जिस प्राणि-पदार्थमें राग होता है, उसके दोष भी गुण दीखते हैं और जिस प्राणि-पदार्थमें द्वेष होता है, उसकी विस्तृत गुणावलीमें भी दोष दिखायी देते हैं। राग-द्वेष कभी भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपका दर्शन-ज्ञान नहीं होने देते। इसलिये चित्तको राग-द्वेषरहित करना पड़ेगा।

याद रखो—जहाँ दृष्टिमें दोष देखनेकी प्रवृत्ति हो गयी है, वहाँ राग बहुत कम रहता है और द्वेष बहुत ज्यादा; क्योंकि जिसमें दोष-ही-दोष दीखते हैं, उससे द्वेष उत्पन्न हो जाता है और द्वेष होनेपर दोष-दृष्टि और भी प्रबल तथा सुदृढ़ हो जाती है। ऐसी अवस्थामें सदाचार तथा सद्गुणोंमें भी सद्बुद्धि और सत्यव्यवहारमें भी, यहाँतक कि संतोंमें और भगवान् में भी दोष दीखने लगते हैं। जगत् में लोग जो भगवान् की, संतोंकी, सदाचार तथा सद्गुणोंकी, सद्बुद्धि और सत्य-व्यवहारकी भी निन्दा करते देखे जाते हैं, इसका प्रधान कारण है—उनकी बद्धमूल दोष-दृष्टि।

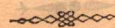
याद रखो—मनुष्यको दूसरोंमें जितने अधिक दोष दिखायी देते हैं, उतना ही अधिक दोषोंका

चिन्तन होता है। जैसा सतत चिन्तन होता है, वैसा ही अन्तःकरणका रूप बन जाता है और फलतः दोषोंका चिन्तन करते-करते उसके अपने जीवनमें वे ही दोष आ जाते हैं। फिर तो बाहर-भीतर दोषोंका ही वातावरण बन जाता है और मनुष्यका अनायास ही पतन हो जाता है।

याद रखो—इस दोष-दृष्टिका जबतक मूलोच्छेदन नहीं होगा, तबतक पतनकी ओर गति बनी ही रहेगी। इसलिये इसका नाश करना परम आवश्यक है। दोष-दृष्टिका नाश होता है गुणदृष्टिसे। अतः ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे हमारी वृत्ति जहाँ दोष देखती है, वहाँ वह गुण खोजनेमें लग जाय। यह निश्चित है कि खोजनेपर गुण निश्चय ही मिल जायेंगे; क्योंकि इस जीव-जगत् में प्रत्येक प्राणि-पदार्थमें न्यूनाधिकरूपमें सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण रहते हैं। हम किसीके सत्त्वकी ओर देखेंगे तो हमें उसमें गुण दिखायी देने लगेंगे और जितना हम उसमें गुण देखकर—सात्त्विकता देखकर उसके गुणोंका—सात्त्विकताका विचार करेंगे, हमारे विचार उसके हृदयमें जाकर उसकी सात्त्विकताको और भी बढ़ायेंगे। हमारे विचार जितने ही अधिक सुपुष्ट, प्रबल, विशद तथा दृढ़ होंगे, उतनी ही उसकी सात्त्विकता अधिक बढ़ेगी। फलतः क्रमशः उसका जीवन सात्त्विकताकी—सद्गुणोंकी अधिकतासे भरता जायगा और उसके दोषोंका मूलोच्छेद होने लगेगा। अतएव कभी किसीके दोष न देखकर सदा सबमें गुण देखनेका ही अभ्यास तथा प्रयास करना चाहिये, इसीमें अपना और उसका हित है।

याद रखो—परमार्थके साधकके लिये तो परदोष-दर्शन बहुत बड़ा साधनका विघ्न है। वस्तुतः साधकको पराये दोष-गुण दोनों ही नहीं देखने चाहिये, परंतु दोष तो कभी भी नहीं देखने चाहिये।

‘शिव’



ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश

(विभिन्न सज्जनोंको लिखे अप्रकाशित पत्र)

(१)

सप्रेम राम राम ! तुम्हारा ता० १६।४।६१ का लिखा पत्र यथासमय मिल गया था, पर अवकाश कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें देर हो गयी सो विचार नहीं करना चाहिये ।

प्रिय.....को दौरा आनेका हाल एवं उसकी प्रसन्नताकी स्थिति लिखी सो कभी कष्टका कार्य आ पड़े तो तुमलंगोंको भी वैसी ही स्थिति रखनी चाहिये । प्रिय.....ने जो यह कहा कि जीते-जी इस दरबारमें भगवत्प्राप्ति नियम नहीं है—यह उसकी गलती है । जीते-जी भगवत्प्राप्ति हो सकती है, अवश्य ही उसके लिये भरपूर प्रयत्न होना चाहिये । तुमने जो यह कहा कि जीते-जी भगवत्प्राप्ति करके जीवन्मुक्ति का आनन्द लेना है सो ठीक है, पर 'आनन्द लेना है' ऐसा लक्ष्य न रखकर 'सबको आनन्द देना है' यह रखना चाहिये । उसने जो यह कहा कि 'रामजी मिठनेके बाद कोई विरला ही काम करता है'—इस विषयमें मुझसे पूछा सो ठीक है । भगवत्प्राप्ति होनेके बाद उस महापुरुषके द्वारा कर्म स्वाभाविक ही होते हैं, वह कर्म करता नहीं । उसके वे लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्म होते हैं । और उसको करना ही क्या है ? केवल लोगोंको कल्याणमें लगाना है । इस विषयमें गीता-तत्त्वविवेचनीमें अ० ३ श्लोक २५-२६ की टीकाको देख लेना चाहिये ।

तुमने लिखा कि जब परमात्माके ध्यानमें ही इतना आनन्द है तो जिन्हें प्राप्ति हो गयी, उनके आनन्दका तो कहना ही क्या है, सो तुम्हारा लिखना बहुत ठीक है । वस्तुतः भगवत्प्राप्त पुरुषोंको जो आनन्द प्राप्त है

वह अत्यन्त विलक्षण और अनिर्वचनीय ही है । भगवान् श्रीरामके दर्शन करनेके बाद जो जनककी प्रेमस्थितिका वर्णन रामचरितमानसमें है वह तो भगवत्प्रेमकी महिमा दर्शानेके लिये किया गया है । महापुरुषोंके द्वारा जीवोंको भगवान्की ओर लगानेका प्रयत्न और उनकी गरज करना वस्तुतः उनकी जीवोंपर अनुकम्पा ही है । उनमें यह स्वाभाविक ही होती है । तुमने लिखा कि वे अपने-आपको छिपाये रखते हैं सो यह छिपाना भी प्रेम बढ़ानेके लिये ही है । अतः इसमें भी लोगोंका कल्याण ही उद्देश्य है ।

तुमने लिखा कि आपकी तरह गरज करके लोगोंको प्रभुकी ओर लगानेकी बात औरोंके विषयमें ध्यानमें नहीं आती सो यह व्यक्तिगत बात है । मैं तो एक साधारण आदमी हूँ । मैंने बात की, उसको लेकर तुमने मेरी बड़ाई लिखी सो ऐसे व्यर्थकी बड़ाई नहीं करनी चाहिये ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने भक्तोंकी चरणधूलिसे पवित्र होनेके लिये उनके पीछे-पीछे चरनेकी बात कही है, यह ठीक है; पर इस समय ऐसा भक्त देखनेमें नहीं आता है ।

जब-जब किंकर्तव्यविमूढ़ता आती है, तब-तब तुम नाम-जप करने लगते हो और उससे लाभ होता है सो बहुत ठीक है । यह तुम्हारे श्रद्धा और प्रेमकी बात है । फिर भी निरन्तर जप नहीं होता—यह स्वभावका दोष है । इस स्वभावदोषको दूर करके निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये । जप करते समय मन नहीं टिकता तो भी जप करते रहना चाहिये और मन टिकनेके लिये भगवान्से करुणभावसे

प्रार्थना करनी चाहिये । रामायण पढ़नेमें मन अधिक लगता है तो उसे ही अधिक पढ़ना चाहिये । मानसिक पूजाके समय निद्रा-आलस्य आता है तो 'गीता-तत्त्वविवेचनी' अ० ६ श्लोक १३ के अनुसार खस्तिक, बद्ध या पद्मासनसे बैठना चाहिये ।

भगवान्की कृपा तो सभीपर अपार है । उसको मानने और आदर करनेकी आवश्यकता है । जो जितनी कृपा मानता है, उसे उतना ही लाभ प्राप्त होता है । मुझसे मिलनेका मन लिखा सो तुम्हारे प्रेमकी बात है । तुम दूकानके आदमीके आ जानेपर अपने पिताजीसे आज्ञा लेकर जब वे प्रसन्नतासे आज्ञा दें तभी आ सकते हो । का ता० १ मईको खाना होकर आनेका समाचार मिला है । मेरा स्वास्थ्य ठीक है । से राम राम कहना चाहिये ।

(२)

सप्रेम राम राम । तुम्हारे दो पत्र तथा कार्ड मिले । समयभावके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया सो इसके लिये तुम्हें किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये ।

ध्यानावस्थामें किये हुए विग्रहके दर्शनकी बात तो तुम ही जान सकते हो । मैं अन्तर्यामी नहीं हूँ । मैंने यदि यह बात तुमको लिख दी तो तुम्हें इसके लिये दुःख नहीं करना चाहिये ।

तुम्हें अपनी निन्दा और मेरी प्रशंसाकी बात लिखकर मुझे लज्जित नहीं करना चाहिये । जो कुछ तुममें सद्गुण है, वह मेरी कृपासे है, तुम्हें ऐसा नहीं समझना चाहिये । सब भगवान्की कृपा है । मैं तो साधारण आदमी हूँ । मेरी क्या सामर्थ्य है ?

अपनी कमी दूर होनेके लिये तुम्हें भगवान्की अनन्य-शरण लेनी चाहिये । एकमात्र भगवान्की शरण लेकर करुणभावसे रो-रोकर स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्की कृपासे ही कमी दूर हो सकती है । किसी

की कमी दूर करनेकी मेरी तो कोई सामर्थ्य नहीं है ।

भगवान्की मूर्ति लानेके विषयमें तुमने सब समाचार लिखे सो मादूम किये । × × × × अपने मनपसंदकी मूर्तियाँ तुमको खय ही देखकर लानी चाहिये । तुमने लिखा कि 'प्रभु आनेमें इतनी देर क्यों कर रहे हैं ?' सो देरीका कारण श्रद्धा, प्रेम और तत्परतामें कमी हो सकती है । इस कमीको दूर करना चाहिये । तुम्हारे करनेसे ही कमी दूर हो सकती है ।

तुम्हारे मनमें बहुत-सी बातें मुझको लिखनेकी आती हैं, परंतु संकोचवश नहीं लिखते सो ठीक है । किंतु बिना लिखे तो किसीके मनकी बात भगवान्के सिवा और कौन जान सकता है ? लिखनेमें जो मान-बड़ाईकी इच्छा होती है, उसका त्याग करना चाहिये ।

सत्संग-विषयकी प्रायः बातें भली प्रकार तुमसे खबर मिलनेपर ही हो सकती हैं । तुमने गीताके दूसरे अध्यायके कई श्लोकोंके विषयमें पूछा सो इस विषयमें भी खबर मिलनेपर समझाया जा सकता है, पत्रद्वारा पूर्णरूपसे समझानेमें कठिनाता है ।

तुमलोग सब मिलकर गीता-तत्त्वविवेचनीके कुछ चुने हुए श्लोकोंपर विचार करते हो, यह उत्तम बात है ।

भगवान् तुमसे किस प्रकार मिलना चाहते हैं—यह तो वे ही जानें, परंतु तुम्हारा इस प्रकार लिखना कि हर समय हर रूपमें हमसे मिलते भी तो नहीं हैं, उनके सिवा किसीकी ताकत है जो हमारे पास आ सके—बहुत अच्छा भाव है ।

तुम्हारे घरवाले तुम्हें मेरे पास छोड़ दें—तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिये । यह तुम्हारे माताजी-पिताजी आदिके मनके विरुद्ध बात है और उनकी बिना इच्छाके कोई काम करनेका तुम्हें अधिकार भी नहीं है ।

तुम उनसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना तो कर सकते हो । पर करना वही चाहिये, जिसके लिये घरवाले प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दें × × × × ।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र ता० २६ । ४ ।
५७ का यथासमय मिला । समाचार विदित हुए ।
समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ
है । उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

१—आप ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, यह
बड़ी अच्छी बात है । आपके घरवालोंने जो आपकी
शादी कर दी है, इसमें भी कोई बुराई नहीं है ।
इसके लिये न तो घरवालोंको दोषी समझना चाहिये,
न अपनी धर्मपत्नीको ही । पति-पत्नीका सम्बन्ध होनेमें
प्रारब्धकी ही प्रधानता है । आप अपने उद्देश्यकी
सिद्धि प्राप्त परिस्थितिसे भयभीत होकर या द्वेष करके
नहीं कर सकते, प्रत्युत स्त्रीके साथ अनासक्त भावसे
न्याययुक्त और प्रेमपूर्वक व्यवहार करके कर सकते हैं ।

अपनी धर्मपत्नीके साथ आपको मधुर व्यवहार
करना चाहिये । एवं ऐसा विचार भी बिल्कुल नहीं
रखना चाहिये कि वह चालाक या बदमाश है । आप
यदि उसे प्रेम-सुख देते रहेंगे और बदलेमें उससे सुख
या सेवाकी इच्छा नहीं रखेंगे तो वह आपके लिये
कदापि चालाक या बदमाश नहीं रह सकती, ऐसा
विश्वास रखना चाहिये ।

माता, पिता और घरवालोंके आज्ञा-पालनके लिये
एवं पत्नीकी प्रसन्नताके लिये भी आपको अपनी पत्नीके
पास शयन करना चाहिये, यही उचित जान पड़ता
है । उसके पास रहकर उसकी सम्मतिसे आप संयम-
पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करें । महीनेमें एक बार
ऋतुकालमें स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये उसके साथ विलास
करनेवाला गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही माना गया है ।

आप यदि उससे अलग रहेंगे तो दो हानियाँ हो
सकती हैं—एक तो आपकी पत्नीका चरित्र दूषित हो
सकता है, उसका दायित्व आपपर आता है । दूसरे,

आपके उद्देश्यमें विघ्न पड़नेकी सम्भावना है; क्योंकि
उसके मनमें आपकी ओरसे दुःख हो सकता है,
घरवाले भी दुःखी हो सकते हैं और उनकी इस
व्यथामयी भावनाका प्रभाव आपपर पड़े बिना नहीं
रह सकता ।

२—आप प्रभुको इसी जीवनमें पाना चाहते हैं,
यह बड़े ही आनन्दका विषय है । प्रभुका मिलन तो
मनुष्य-जीवनमें ही हो सकता है । यह जीवन इसीके
लिये मिला है । आपका यह भाव घरवालोंको तभी
बुरा लग सकता है जब कि आप उनकी आज्ञा न मानें
और उनके द्वारा अपने मनकी बात पूरी करानेकी
इच्छा करें ।

घरवाले जो आपसे यह आशा करते हैं कि आप
खूब कमाई करें, यह उनके लिये स्वाभाविक ही हैं,
अपनी संतानसे इस प्रकारकी आशा करना उचित है ।
आपको चाहिये कि प्रभुके नाते धर्मानुकूल उनके
मनकी बात पूरी करानेकी पूरी चेष्टा करें, आवश्यक
परिश्रम करनेमें न घबरायें, बदलेमें उनसे अपने मनकी
बात पूरी करानेकी इच्छा न रखें और आग्रह भी न
करें एवं प्रभुकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे अपने कर्तव्यका
पालन करते रहें । ऐसा करनेसे आपका ईश्वर-प्राप्तिका
मार्ग सुगम हो सकता है । प्रभुकी कृपासे समस्त
विघ्न-बाधाएँ अपने-आप शान्त हो सकती हैं । अतः
आपको किसी प्रकारका दुःख या भय नहीं करना
चाहिये ।

घर छोड़कर पहाड़ोंमें जानेसे न तो संसार छूट
सकता है और न भगवान् ही मिल सकते हैं; क्योंकि
भगवान् प्रेमसे मिलते हैं, घर छोड़नेसे नहीं । संसार
छूट नहीं सकता; क्योंकि पहाड़ भी संसारमें ही हैं ।

घर छोड़नेका नाम संसार छोड़ना नहीं है, किंतु
संसारमें रहते हुए आसक्ति, ममता और इच्छाको
छोड़ना ही संसारको छोड़ना है ।

(४)

सप्रेम हरिस्मरण । तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था । यात्रामें रहनेके कारण मैं जल्दी उत्तर नहीं दे सका । तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर इस तरह है—

१—श्रद्धा-विश्वाससे ही प्रभुके साथ सम्बन्ध होता है, सम्बन्धसे ही प्रेम होता है, प्रेम होनेसे ही मिलनकी लालसा तीव्र होती है और जैसे-जैसे मिलनमें विलम्ब होता है, व्याकुलता और अधीरता बढ़ती जाती है, जबतक मिलन नहीं होता, चैन नहीं पड़ता ।

२—प्रेम श्रद्धा-विश्वासका फल है । श्रीसीताजीको पार्वतीजीसे आशीर्वाद मिल चुका था; पर प्रेमवश सीताजी अधीर हो रही थीं, उनसे विलम्ब सहन नहीं हो रहा था । इसलिये प्रार्थना अपने-आप होती थी ।

३—अपने हाथके रत्नमें भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन सीताजी निःसंकोच कर रही थीं, सम्मुख होकर दर्शन करना वैसे नहीं हो सकता । इसलिये वहाँ जो तुलसीदासजीका कथन है, वह ठीक ही है ।

४—किसीके हृदयमें प्रभुके लिये आकुलता पैदा कर देना मेरे वशकी बात नहीं है, वह तो सबके अपने विश्वास और प्रेमपर निर्भर है ।

५—स्वप्नकी बात ज्ञात हुई । स्वप्न मनुष्यके भावके अनुसार आया करते हैं, इसमें कोई खास बात नहीं है ।

× × × से राम राम कहना चाहिये ।

(५)

सप्रेम हरिस्मरण । तुम्हारा पत्र मिला । समाचार जाने । तुम्हारे पहले पत्रके प्रश्नोंका उत्तर दे दिया था सो मिला होगा । तुम्हारा मन यहाँ आनेको करता है तथा घरवालोंको बिना कहे ही चले आनेका भी कभी-कभी भाव आता है सो मात्तम किया; परंतु घरवालोंसे बिना कहे तुम्हें यहाँ नहीं आना चाहिये । घरवालोंसे पूछकर उनकी स्वीकृति मिलनेपर ही आना चाहिये । श्रीचैतन्य महाप्रभु तो भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर घर छोड़कर चले गये थे । भगवान्‌के लिये व्याकुल होना अच्छा है । पर यहाँ आनेके लिये व्याकुल होनेका विशेष महत्त्व नहीं है । × × × ×

तुम्हें चाहिये कि सत्संगमें सुनी हुई बातोंको काममें लानेकी चेष्टा करो । मेरी लिखी पुस्तकें पढ़नी चाहिये, यह भी सत्संग ही है । उन पुस्तकोंमें लिखी हुई अच्छी-अच्छी बातोंको जीवनमें उतारना चाहिये । × × × ।

कोई कुछ भी कहें

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिका

मन्दं बान्धवसंचया जडधियं मुक्तादराः सोदराः ।

उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुराः कामं महादाम्भिकं

मोक्तुं न क्षमते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम् ॥

(श्रीमाधव)

नीतिनिपुण पुरुष मुझको 'मुग्ध' कहें; वैदिक विद्वान् बार-बार 'भ्रान्त' कहें; बन्धु-बान्धवगण 'मन्द' कहें; सहोदर भाई आदर त्यागकर 'जडबुद्धि' कहें; धनिक-समुदाय मुझे 'उन्मत्त' कहे; विवेक-चतुर पुरुष 'महान् दाम्भिक' कहें—यों कोई कुछ भी कहे; मेरा मन श्रीगोविन्द-पदारविन्दकी सेवन-स्पृहाको त्यागनेमें समर्थ नहीं है ।

प्रेमरस और अनन्त प्रकाश

(लेखक—बाबा श्रीदीनशरणदासजी)

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीसनातनगोस्वामिकृत—
‘श्रीवृहद्भागवतामृत’ २६ । ३९ श्लोककी टीकामें एवं
कविकर्णपूरकृत ‘अठंकारकौस्तुभ’ ५ । ३४ श्लोकमें
‘प्रेमरस’ नामसे एक रसका उल्लेख पाया जाता है,
कविकर्णपूरके मतमें शृङ्गाररससे प्रेमरस भिन्न है ।
श्रीरूपगोस्वामी शृङ्गाररसको मधुररस (भक्तिरसामृतसिन्धु
२ । ५ । ११५) एवं श्रीजीवगोस्वामी उज्ज्वलरस
(प्रीतिसंदर्भ १५८ अनुच्छेद) कहते हैं । कर्णपूरके
मतमें श्रीराधाकृष्ण प्रेमरसके भी आलम्बनविभाव हैं और
शृङ्गाररसके भी । प्रेमरसमें अङ्गसङ्ग नहीं है, शृङ्गाररसमें
है । प्रेमरसमें अङ्गसङ्ग होनेपर शृङ्गाररससे भिन्न आख्या
देनेका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । श्रीराधाकृष्णका
अवलम्बन करनेके लिये दोनों ही प्रकारके रसकी
विद्यमानताके लिये प्रकाश-भेद स्वीकार करना अनिवार्य
हो जाता है । श्रीरूपगोस्वामीकृत ‘लघुभागवतामृत’
ग्रन्थमें—

सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति ।

(१ । ३५८)

श्रीभगवान्ने अनन्त प्रकाशोंमें अनन्त प्रकारकी
लीलाएँ कीं और कर रहे हैं । जिस प्रकार श्रीकृष्णके
अनन्त प्रकाश हैं, उसी प्रकार श्रीराधाके भी अनन्त
प्रकाश हैं—

कृष्णभावानुसारेण लीलाख्या शक्तिरेव सा ।

तेषां परिकराणां च तं तं भावं विभावयेत् ॥

(वही १ । २५९)

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती भी ‘श्रीवृन्दावनमहिमामृत’में
लिखते हैं—

एकं वृन्दावनान्तर्विहरदथ

परं गोकुले प्राप्तयोगम् ।

विच्छेद्यन्यत् तदेवं लसति बहुविधं

राधिकाकृष्णरूपम् ॥

(दूसरा शतक ३५ श्लोक)

श्रीराधाकृष्णके बहुत प्रकारके प्रकाश हैं ।

(१) यमुनावेष्टित श्रीवृन्दावनमें मात्र सखी मञ्जरी-
गणोंके साथ एक प्रकाश (इस प्रकाशमें पिता, माता,
सखागण या गोचारणादि लीलाएँ नहीं हैं) ।

(२) पिता, माता एवं सखागणोंके सहित नन्द-
ग्राम, बरसाना एवं गोवर्धन इत्यादि स्थानोंमें गमनागमन,
गोचारणादि लीलायुक्त ।

(३) विच्छेदी अर्थात् विच्छेद या विरहलीलामय
एक प्रकाश ।

इस प्रकार बहुविध या असंख्य प्रकाशोंमें श्रीराधा-
कृष्णकी प्रकट एवं अप्रकट बहुविध लीलाएँ हो रही हैं ।
सुतरां कोई भी एक प्रकाशविशेषमें श्रीराधाकृष्णकी
अङ्गसङ्गहीन-लीला- (पाश्चात्य Platonic Love नामक
वाक्य) सदृश एक धारणा पायी जाती है । भावना या
उपासना साधक अपनी इच्छा एवं रुचिसे ही कर सकता
है । इसलिये असंगति, अनुपपत्ति या आपत्तिजनक कुछ
है, ऐसी बात मनमें भी नहीं आती ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें है—

काम प्रेम दोहाकार विभिन्न लक्षण ।

लौह आर हेम जैसे स्वरूपे विलक्षण ॥

×

×

×

काम आर प्रेमे हय बहुत अन्तर ।

काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर ॥

(आदिलीला चतुर्थ परिच्छेद)

यह सर्ववादिसम्मत है कि जहाँ आलोक है, वहाँ
अन्धकार हो नहीं सकता । सुतरां जहाँ ‘प्रेम’ है, वहाँ

‘काम’ रह नहीं सकता । श्रीराधाकृष्ण प्रेममय-प्रेममयी हैं । उनके मध्य कामका व्यापार या व्यवहार हो ही नहीं सकता । कामगन्धहीन प्रेम-कथाकी भावना करनेसे सभीको आनन्द ही नहीं होता, परंतु चित्त शुद्ध या पवित्र हो जाता है । प्रश्न हो सकता है कि—काम-गन्धहीन प्रेम जगत्में सम्भव है कि नहीं ? इस जगत्में इस प्रकारकी अनेक वस्तुएँ हैं, जो साधारणजनकी धारणा या बुद्धिके अगम्य हैं ।

यदमितरसशास्त्रे

व्यञ्जि

वैदग्ध्यवृन्दं

तदणुमपि

न

चेत्

कल्पते

कामिलोकः ।

(गोपालचम्पू, पूर्वार्ध २४ पूरण, ६७ अनु०)

असंख्य रसशास्त्रोंमें जो सब अपूर्व रसिकता-प्रेमिकताका वर्णन है, उसका अणुमात्र भी साधारणजन समझनेमें समर्थ नहीं हैं ।

श्रीराधाकृष्णके पक्षमें कोई भी अलौकिक अपूर्व लीला असम्भव मानना अनुचित है ।

बैकुण्ठस्थे नाहि ये ये लीलार प्रचार ।

से से लीला करिब याते मोर चमत्कार ॥

श्रीरासलीलाकी फलश्रुतिमें है—‘श्रद्धाके साथ उनका श्रवण करनेसे हृद्दोग—काम दूर हो जाता है—

‘हृद्दोगमाश्वपहिनेत्यचिरेण धीरः ।’

व्रजबधूसह कृष्णेर रासादि विलास ।

येई इहा कहे सुने करिया विश्वास ॥

हृद्दोग काम तार तत्काले हय क्षय ।

तिन गुण क्षोभ नाहि महाधीर हय ॥

ऐसा होनेपर (एतत्सत्त्वे) भी, श्रीरासपञ्चाध्यायीका श्रवण-कीर्तन करके भी देखा है कि हृद्दोग—काम दूर नहीं होता है । इससे पता चलता है कि—यथार्थ श्रद्धाके सहित अनुशीलन ही नहीं किया गया है । यह श्रद्धा अति दुर्लभ है । (एई श्रद्धा अति दुर्लभ बलिआई

मने हय) दुर्दैववश जिनको ऐसी श्रद्धा नहीं है, उनके हृद्दोग—कामको दूर करनेके लिये अगत्या बाध्य होकर उपायान्तरका अवलम्बन करना ही चाहिये । साधन-भजन अपने अधिकारके अनुसार ही करने चाहिये ।

‘स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ॥’

(भा० ११।२१।२)

इसीलिये भक्तगण सर्वदा ‘साधु सावधान !’ कहते हैं ।

श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—

‘पौरुषविकारवदिन्द्रियै रहस्यलीला तु न उपास्या ।’

(भक्तिसंदर्भ ३३८ अनु०)

‘जिनकी इन्द्रियाँ चञ्चल हैं, उनको चाहिये कि श्रीराधाकृष्णकी कामक्रीड़ाकी उपासना या श्रवण-कीर्तनादि न करें ।’ निर्मल-निष्काम प्रेमकी कथा सुनने या भावना

करनेसे चित्त शुद्ध पवित्र होता है । प्रेमरस ‘काम-गन्धहीन’ है, इसीलिये प्रेमरसमयी लीलाकी उपासना ही सर्वसाधारणके पक्षमें सर्वापेक्षा उपयोगी है, ऐसी मेरी धारणा है । श्रीराधाकृष्णके अनन्त प्रकाश हैं । उनके मध्यमें किसी भी प्रकाशमें शुद्ध प्रेमलीला है, कामका गन्धमात्र भी नहीं है । प्रेममें चित्तद्वीभूत हो जाता है ।

‘सम्यङ्मसृणितस्वान्तः’ (भ० २० सि० ४।१)

सम्यङ्मसृणितः (अतिशयेन आर्द्रम्) स्वान्तः—

चित्तम् यस्मिन् सः (टीका विश्वनाथ चक्रवर्ती, चित्त-द्रवका अनुभाव नयनद्रव वा अश्रु है) (उज्ज्वल० स्थायीभाव, ८२ श्लोककी टीका) सत्त्वोद्रेकके फलस्वरूप सात्त्विक विकाररूप अश्रुका उद्गम होता है । जिस क्षण आँखोंमें जल है, उस क्षण कामका विकार असम्भव माना जाता है ।

धारा बाष्पमयी न याति विरतिं

लोकस्य निर्मित्सतः ।

प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दनरतं

लोभान्मनो मा कृथाः ॥

(विदग्धमाधव ५।३२)

श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त हो जानेपर नयनधाराका विराम नहीं होता । अनवरत चक्षुसे अश्रुधारा वर्षित होती रहती है । श्रीराधारानी प्रेममयी, सुतरां अश्रुमयी हैं । श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलामें प्रेमरसका वर्णन यथेष्ट है । श्रीजीवगोखामी लिखते हैं—‘विदग्धानां यथा वनितानु-रागास्वादने वाञ्छा न तथा तत्स्पर्शादावपि’—(प्रीति-संदर्भ ३१६ अनुच्छेद) । जो स्पर्शवाञ्छाहीन रति है, उसीका नाम ‘प्रेमरस’ है ।

कविकर्णपूरके मतमें ‘प्रेमरसका स्थायी भाव चित्तद्रव-भावविशेष नहीं, किंतु भावका ही अनुभावविशेष है ।’—(बृहद्भागवतामृत, २ । ५२२।६) तथापि जिस चित्तद्रवको स्थायी भाव कहते हैं, उसको (आयुर्धृत-मितिवत्) औपचारिक मानना चाहिये । चित्तद्रवको स्थायी भाव कहनेसे अश्रुको भी प्रेम या स्थायी भाव कहा जा सकता है ।

ये प्रेम या देखिल आमि ताँहार नयने ।

ताँहाके मनुष्यज्ञान आर नाहि मने ॥

(श्री चै० भा०, मध्यखण्ड, १ अध्याय)

इस स्थानपर अश्रुको ही प्रेम कहा गया है । प्रेममें चित्त सम्यक् मसृणित या द्रवीभूत होगा, प्रेमके प्रणय इत्यादिकी अवस्थामें चित्तद्रव या नयनजलका उत्तरोत्तर आधिक्य ही होगा । स्नेह-भूमिकामें चित्तद्रवका ही विशेषत्व एवं विलक्षणत्व होता है ।

‘सान्तश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते ।’

(भ० र० सि० ३ । २ । ८४)

इसीलिये रुद्रटने अपने अलङ्कारग्रन्थमें ‘स्नेह-स्थायी भवेत् प्रेयान्’ कहा है । प्रेयोरस या प्रेमरसका स्थायी भाव स्नेह है । कविकर्णपूर प्रेयोरसको प्रेमरस एवं स्नेहके स्थानपर स्थायी भाव चित्तद्रव कहते हैं । प्रेमरसके कई उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

ग्रनप्रणयनिर्झरप्रसरलब्धपूर्त्तर्मनो-

हृदस्य परिवाहितामनुसरद्भिरश्रुप्लुतम् ।

जुलाई २—

स्फुरत्तनुखट्करैर्नवकदम्बजम्भश्रियं

व्रजत् तदनिशं भजे व्रजनवीनयूनोर्युगम् ॥

(सखमाला)

—‘जिनका मनोहृद प्रणय-निर्झरके उच्छलनसे परिपूर्ण है एवं उसी हृदके प्रणालीस्वरूप अश्रुप्रवाहसे जिनके वल्ल एवं अङ्गदि परिसिक्त हैं, जिनके श्रीअङ्ग नव कदम्बपुष्पके सदृश रोमाञ्चयुक्त हैं, व्रजके उन्हीं श्रीयुगलकिशोरका सर्वदा भजन करो ।’

श्रीराधाकृष्ण-उपासकके योगपीठमें श्रीराधाकृष्णका ध्यान बाध्यतामूलक है । गौडीय वैष्णवसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीरूपगोखामिकृत योगपीठका वर्णन इस प्रकार है—

तरङ्गदङ्गया किल रङ्गदेव्या

सव्ये सुदेव्या च शनैरसव्ये ।

श्लक्ष्णाऽभिमर्शनं

विमृज्यमान-

स्वेदाश्रुधारौ

सिचयाम्बलेन ॥

(श्रीराधाकृष्ण गोखामिकृत ‘साधनदीपिका’ कक्षा ४)

‘योगपीठमें सिंहासनपर उपविष्ट श्रीराधाकृष्णके सहज-सात्त्विक विकार स्वेद एवं अश्रुधाराको दक्षिण पार्श्वमें स्थित रङ्गदेवी एवं वामपार्श्वमें स्थित सुदेवी अति संतर्पणपूर्वक वसनाञ्चलद्वारा मार्जन कर रही है’ यह भी प्रेमरसका उदाहरण है ।

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद-

स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवासीति हन्त प्रलापाः ।

त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे

व्याहारे नो न हि समुचितो युष्मदसत्प्रयोगः ॥

(अलङ्कारकौस्तुभ ५ । ३४)

श्रीकृष्णकी उक्ति है—“राधे ! मैं तुम्हारा प्रियतम और तुम मेरी प्रियतमा हो, यह तो प्रवादमात्र है । तुम मेरी और मैं तुम्हारा प्राण—इसको भी प्रलाप माना जाता है । तुम मेरी एवं मैं तुम्हारा—यह भी उत्तम नहीं । तुम्हारे मेरे कथा-प्रसङ्गमें ‘तुम और मैं’ शब्दका प्रयोग ही मैं अनुचित मानता हूँ ।”

निर्मलचित्त प्रेमी भक्तको इस रसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं—

आत्मनोर्द्धिर्देहत्वे एतादृशप्रयोगः समुचितो भवति । अत्र तु श्यामपीतदेहयोर्द्वयोरेक एवात्मा । यथैकस्मात्कमलनालादुत्पन्नं नीलपीतकमलद्वयम्, तद्वदिति ज्ञेयम् ।

इस स्थानमें श्याम एवं पीतवर्ण युगलकी जब एक ही आत्मा है, तब उनके मध्यमें तुम और मैं शब्दका प्रयोग असमीचीन है ।

श्रीमद्भागवत १० । २२ । १२ श्लोककी 'चैतन्य-मतमञ्जूषा' नाम्नी टीकामें कविकर्णपूरके गुरुदेव श्रीनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं—'ब्रह्महरण-लीलामें गोपियोंका अनूठा प्रेमरस अभिव्यक्त हुआ है। उसमें आलम्बन—श्रीकृष्ण, उद्दीपन—श्रीकृष्णकी परिहासोक्ति, अनुभाव—अन्योन्यप्रेक्षणगादि और संचारी व्रीड़ादि हैं। इन सबसे पुष्ट प्रेमकाररूप स्थायी भाव रसताको प्राप्त होता है। इस स्थानपर कुमारीगणोंका प्रेमाख्य रस या प्रेमरस है, किंतु शृङ्गाररस नहीं है।

कविकर्णपूर जिस प्रकार चित्तद्रवातिशययुक्त प्रेमरूप स्थायी भावको ही 'चित्तद्रव' कहते हैं, उसी प्रकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भी ममत्वातिशयाङ्कित प्रेमको ही ममकार या ममतारूप स्थायी भाव कहा है।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ।

भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

(भ० २० सि० १ । ४ । २३)

विष्णुमें अनन्यममतायुक्त ममतारूप भक्तिको ही प्रेम कहा जाता है ।

उभे इदानीं उभयोस्तु चित्ते

कदुष्णनिःश्वासचरिष्णुकेन ।

एकीकरिष्यन्नुरागशिल्पी

रागोष्मणैव द्रवतामनैषीत् ॥

(रसार्णव-मुद्राकर २ । ११२)

उस समय अनुरागशिल्पीने श्रीराधाकृष्णके चित्तको

ईषत् उष्ण निःश्वासयुक्त रागकी उष्णताद्वारा एकीभूत करनेके लिये सम्यक् रूपसे द्रवीभूत किया था । यही प्रेमरसका दृष्टान्त है ।

महात्मा शिशिरकुमार घोषकृत 'श्रीकालाचंद गीता' ग्रन्थमें प्रेमरसका ही वर्णन है, शृङ्गाररसका नहीं । एवं इसी कारण यह ग्रन्थ वंगीय शिक्षित समाजमें विशेष उपयोगी एवं आदरकी वस्तु हो गया है ।

श्रीमीराबाईकी पदावलीमें भी प्रेमरसका ही उच्छलन है, शृङ्गाररसका नहीं । इसी कारण आधुनिक शिक्षित समाजमें मीराबाईके गीतोंका इतना आदर है ।

आण्डालकृत ग्रन्थों एवं शठकोपाचार्यकृत 'सहस्रगीति' में भी प्रेमरसकी ही कथा है । श्रीचण्डीदासकी—

'एकत्र थाकिब नाहि परसिब, भाविनी भावेर देहा ।'

—इस पंक्तिसे भी प्रेमरस ही इङ्गित है—ऐसा स्वीकृत है ।

आसामके श्रीमाधवदेवकृत—'व्रगीत'में जो कई पदोंमें श्रीराधाकृष्णकी लीला-कथा है, वह भी प्रेमरसात्मक ही है ।

ज्योत्स्नाशीघ्रं हरिमुखविधोरप्यनल्पं पिवन्तौ
नान्तस्तृप्तिं तव कथमपि प्राप्नुतोऽहक्चकोरौ ।

आधूर्णन्तौ मदकलतया सुष्ठुमुग्धौ यदेतौ

भूयो भूयस्तमिह वमतो वाष्पपूरच्छलेन ॥

श्रीकृष्णके मुखसौन्दर्यके दर्शनमें द्रुतचित्ता श्रीराधाके स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च प्रभृति सात्विक भावोंके उदित होनेपर भी उनमें अश्रु-प्रपातके ही अति उच्छलनको देखकर वृन्दा उनसे कहती हैं,—'हे राधे ! श्रीहरि-के मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासुधाको बहुत पान करनेपर भी तुम्हारे युगल-नयन-चकोर मनसे कुछ भी तृप्तिबोध नहीं कर रहे हैं। इस कारण वे मत्ततावश पूर्णायमान हो-होकर वृन्दावनकी निकुञ्जोंमें पुनः-पुनः इसी ज्योत्स्नामृत-

को अश्रुप्रवाहके छलसे वमन कर रहे हैं।' यह भी प्रेमरसका ही एक उदाहरण है—

श्रीकृष्णलीला हृदयं पुनातु मे

लीला च या प्रेमरसानुभाविनी ।

रसश्च कान्तापरिशिलितोऽपि यः

कान्ता च या गोकुलयौवताग्रणी ॥

(श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत निकुंजविरुदावली)

‘गोकुल युवतीगणकी अग्रणी कान्ताशिरोमणि श्रीराधाके सहित श्रीकृष्णकी प्रेमरसमयी लीला हम लोगोंके चित्तको पवित्र करे ।’

जगत्में इस परम पवित्र प्रेमरसका जितना अधिक प्रचार एवं घोषणा होगी, उतना ही जगत्का परम मङ्गल होगा, ऐसा मेरा सुदृढ़ विश्वास है ।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१—मनुष्य कुसङ्गसे निरन्तर ऐसे बचता रहे कि जैसे आगपर पैर रखवा कि जले । आग ऊपरसे जलाती है, पर कुसङ्ग भीतर-बाहर दोनों ओर जलाता है ।

२—साधनामें सफलता नहीं मिलती; आनन्द नहीं आता । इन सबमें प्रधान कारण है—साधनामें सद्भाव नहीं है । जबतक साधनामें सद्भाव नहीं होता, तबतक साधना साधना नहीं होती; वह एक प्रकारसे व्यर्थकी-सी चीज होती है । जैसे किसी व्यक्तिको किसी आवश्यक वस्तुका अभाव है । उसकी प्राप्तिके लिये दिन-रात उसके मनमें चिन्ता व्याप्त रहती है तथा उसके लिये वह जी-जानसे प्रयत्न करता है । यही बात साधनाके विषयमें भी समझनी चाहिये । साधनाके प्रति आवश्यक बुद्धि, श्रद्धा और सत्कार-बुद्धि हो । फिर उसके लिये अपने-आप मन चिन्तित रहेगा तथा उसके प्रति स्वतः चेष्टा होगी और वह सद्भावपूर्वक होगी ।

३—परदोष-चिन्तन भयंकर कुसङ्ग है, उसमें फँसे कि फिर गिरना कौन बड़ी बात है ? अतः परदोषमें अरुचि होनी चाहिये । दूसरेका दोष सुननेमें ध्वराहट हो; मनमें चिनगारी-सी लगे । मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर देखते रहना चाहिये । दूसरोंसे कहीं अपना मिलान करना हो तो उनमें जो अच्छे गुण हों; उनसे मिलान करना चाहिये । दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये और न यही सोचना चाहिये कि दूसरोंमें बहुत दोष हैं, हममें भी कुछ दोष हैं तो क्या हुआ ? यह दोषको प्रश्रय देनेकी चेष्टा है । इससे सावधान रहना चाहिये । XXXXXअपनेको निरन्तर ऊँचा उठानेकी चेष्टा रखनी चाहिये; नीचे गिरानेका प्रयत्न कदापि न हो; किसी भी इन्द्रियके द्वारा कभी स्वल्प न हो ।

४—दूसरेके द्वारा होते हुए किसी भी दोषको सहानुभूति-पूर्वक सहन करना चाहिये तथा उसे क्षमा कर देना चाहिये । अपनेद्वारा हुए छोटे-से दोषको भी सहन नहीं करना चाहिये; उसे क्षमा नहीं करना चाहिये । जरा-सा भी अपना दोष अपनेको सहन न हो । जैसे अत्यन्त लोभी व्यक्तिको एक पैसेका भी घाटा सहन नहीं होता; वह उसके लिये दुखी हो जाता है, वैसे ही हमें भी अपनी छोटी-सी भूल या दोष सहन न हो; उसके लिये हमारे मनमें परिताप हो ।

५—दोषोंसे बचा जाय, इसके लिये पहली बात तो यह है कि दोषमें दोषबुद्धि हो, पापमें पापबुद्धि हो । इससे मनुष्य दोष या पाप करनेमें हिचकता है । बार-बार सावधानीके साथ देखता रहे; पतनका अवसर न आने दे । कुसङ्ग दोषोंको प्रोत्साहन देता है, शक्ति देता है तथा दोषोंके होनेमें सुविधा देता है । अतएव कुसङ्गसे अवश्य बचता रहे ।

६—किसी फकीरके मनमें यदि किसी बादशाहके लिये उसकी बादशाहतके नाते गौरव हो तो समझना चाहिये; उसका मन अभी भोगोंमें फँसा है । बादशाहकी दौलतके नाते, विषयोंके नाते, अधिकारके नाते गौरवका अनुभव होना उन विषयोंको महत्त्व देना है । यह मनकी छिपी हुई भोग-सुखास्था और भोगस्पृहाको सूचित करता है और यह भोग-स्पृहा भगवान्से मिलन होनेमें विलम्ब करती है । यह भगवान्में महत्त्वबुद्धि नहीं होने देती और भगवान्में महत्त्वबुद्धि हुए बिना विषयोंके प्रति हेतुबुद्धि नहीं हो पाती ।

७—जिस समाजके जीवनकी गति त्यागकी ओर होती है, समझना चाहिये कि वह समाज सुखकी ओर जा रहा

है। इसके विपरीत जिस समाजकी गति भोगकी ओर है—चाहे वहाँ रुपये अनगिनत बढ़ जायें, भोगोंकी प्रचुरता हो जाय—वह दुःखकी ओर जा रहा है—यह निर्भ्रान्त सत्य है।

८—जीवनका विषयोंके संसारमें संकोच सुखका मार्ग है, जीवनका विषयोंके संसारमें विस्तार दुःखका मार्ग है।

९—जिस समाजमें अधिकार और धनकी पूजा बढ़ रही है, वह पतनकी ओर जा रहा है। जिस समाजमें त्याग और कर्तव्यकी भावना बढ़ रही है, वह समाज उन्नति कर रहा है।

१०—साधनामें दो चीजें प्रधान हैं—बुरेसे बचनेकी वृत्ति और अच्छेमें लगनेकी चेष्टा। साधकमें जो विवेक है, वह जाग्रत है, इसकी पहचान है कि वह बुराईमें गिरनेसे बचता है तथा अच्छाईमें लगनेका प्रयत्न करता है। बुराईका ग्रहण और अच्छाईका त्याग न हो जाय—इन दो बातोंके लिये वह सदा सावधान रहता है।

११—साधक निरन्तर अपने मनको देखता रहता है कि वह कहाँ रहता है। जैसे व्यापारी घाटे-नफेका हिसाब रखता है, वैसे ही साधक अपने अन्तरका निरीक्षण करता है, निरन्तर उसका हिसाब रखता है। भगवान्‌में चित्तका लगना नफा और भगवान्‌की विस्मृतिका होना घाटा है।

१२—जैसे मल-त्याग करके आनेवाला व्यक्ति कभी गौरव नहीं करता कि वह किसी अच्छी, महत्त्वपूर्ण वस्तुका त्याग करके आया है; ऐसे ही विषयोंका त्याग करनेमें गौरव-बुद्धि नहीं होनी चाहिये कि मैंने किसी अच्छी महत्त्वपूर्ण वस्तुका त्याग किया है। जागतिक विषय विष्टाके सदृश हैं।

१३—त्यागका अभिमान त्यागी हुई वस्तुका महत्त्व सिद्ध करता है; उस वस्तुका त्याग स्वाभाविक नहीं है। जैसे अवस्तु या घृणित वस्तुका त्याग स्वाभाविक होता है, वैसे ही संसारके विषयोंका त्याग हो, तब वह वास्तविक त्याग है।

१४—भोगी व्यक्तियोंकी दृष्टिमें जो अधिक सम्मान्य है, वह गिरा हुआ है; क्योंकि भोगियोंकी कसौटी तो भोगोंके बाहुल्यपर निर्भर करती है। जिनका चरित्र ऊँचा है, जिनका ज्ञान-वैराग्य ऊँचा है—ऐसे व्यक्ति जिसे सम्मान्य समझें, वह वास्तवमें सम्मान्य है।

१५—पामर, विषयी और साधक—ये तीन श्रेणियाँ हैं मनुष्योंकी। पामर बुराईको ही अपने जीवनका व्रत मानता है। 'कामोपभोगपरमाः'—उसका सिद्धान्त है। उसकी प्रवृत्ति दिन-रात बुराईमें है। भलाई सोचनेका उसके पास अवकाश नहीं, मन नहीं। वह दिन-रात बुराई सोचता है, बुराई करता है और बुराईमें सुख अनुभव करता है। भगवान्‌की बात, धर्मकी बात, अध्यात्मकी बात उसे सुहाती नहीं; न वह करता है, न वह करना चाहता है—वह 'पामर' पुरुष है।

'विषयी' विषयोंमें आसक्त है; विषयोंका चिन्तन करता है, उनका सङ्ग करता है, उनमें उसकी आसक्ति, कामना, स्पृहा, ममता है, पर बुरे कर्मसे बचकर विषयोंको प्राप्त करना चाहता है। ये दोनों ही महान् दुःखमें रहते हैं। पामर, जो सर्वथा असावधान है, पतनके प्रवाहमें पड़ा हुआ है, वह विषयोंको प्राप्त करते समय और उनका फल भोगते समय—दोनों समय ही दुःखी रहता है; क्योंकि उसकी क्रियाएँ ही ऐसी होती हैं, जैसे किसीके घरमें आग लगा दी, धन लूट लिया, किसीकी इज्जत ले ली। 'विषयी' पुरुष आरम्भमें सुखी रहता है, पर उसका अन्त दुःखदायी होता है। वह वैध विषयोंका सेवन करता है, जो परिणाममें दुःखदायी होते हैं।

पामर इच्छा करके गौरवबुद्धिसे पापमें प्रवृत्त होता है। उसकी पापकी प्रवृत्ति सहज है, स्वाभाविक है, वह उसीमें अभिमानका अनुभव करता है। विषयी पुरुष ऐसा तो नहीं करता, किंतु वह विषयोंमें आसक्त है, विषयोंमें उसका जीवन लगा रहता है। वह भी पापसे बच नहीं सकता; क्योंकि उसके मनमें विषयासक्ति है। तीसरा 'साधक' है, जो सावधान है, मुमुक्षु है। वह समझ-समझकर, सावधान होकर पैर रखता है। वह आसक्तिसे डरता है, कामनासे डरता है। जैसे किसीके घरमें काला नाग घुसा रहता है, दीखता नहीं, पर उस घरका निवासी चौकन्ना रहता है, सावधान रहता है कि न जाने कब कहाँसे वह निकल आवे, ऐसे ही साधक चौकन्ना, सावधान रहता है कि न जाने कब विषयरूपी काला नाग इस ले, कब पतन हो जाय। पामर, विषयी एवं साधक—इन तीनोंके लक्षण इस प्रकार समझने चाहिये। हमें चाहिये हम अपने जीवनका मिलान करें कि हमारी स्थिति किससे मिलती है और हमें क्या बनना चाहिये।

१६-पापसे बचनेके लिये मनुष्यके पाप सबसे बड़ा अंकुश है—“अधर्मका भय”। इस कामको करनेसे अधर्म होगा और परलोकमें इसका दुःखदायी फल मिलेगा—यह भय मनुष्यको सबसे अधिक पापसे बचाता है। प्रायः सभीके मनमें बहुत बार पापकी वृत्ति जगती है; पर अधर्मके भयसे वह पाप करनेसे हिचक जाता है। अतएव जो अपना भला चाहता है, उसे अधर्मके भयको सदा जाग्रत रखना चाहिये।

१७-भगवान्का भय, धर्मका भय, राज्यका भय, समाजका भय एवं अपने व्यक्तिगत आदर्शका भय—इन पाँच हेतुओंसे मनुष्य पापसे बचता है। आजकल ये पाँचों हेतु प्रायः समाप्त हो गये हैं। इसीसे पाप बढ़ रहे हैं। जो पापसे बचना चाहते हैं, उन्हें इन पाँचों हेतुओंकी ओर दृष्टि रखनी चाहिये।

१८-पाप होना उतनी बुरी अवस्था नहीं है, जबतक उसमें पापबुद्धि है, पर जब पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है तब वह बड़ी भयानक है। इस अवस्थामें पापसे निकलना असम्भव हो जाता है।

१९-बहुधा साधक श्रीराधा एवं श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेमकी चर्चा करते हैं, पर वे नहीं सोचते कि श्रीराधाजी एवं श्रीगोपाङ्गनाओंका प्रेम कितना निर्मल, पवित्र, परम त्यागमय एवं समर्पणमय है। हमलोग उनके प्रेमकी छायाको भी नहीं छू सकते। वर्तमान स्थितिमें तो हमलोग स्वार्थमूलक लौकिक प्रेमके भी अधिकारी नहीं हैं। हमलोग कितनी ऊँची बातें करते हैं, ऊँची बातें सुनते हैं, पर हमारा मन कहाँ रहता है? हमारी दृष्टि कहाँ रहती है? हमारी दृष्टि उस गीधकी दृष्टि है, जो आकाशमें बहुत ऊँचे उड़नेपर भी पशुओंके सड़े हुए शव जहाँ पड़े हुए हैं, वहीं ताकता रहता है। बहुधा हमलोग प्रेमकी बातसे अपने विषयोंका सेवन करते हैं। अतएव पहले हमें अपने मनकी सँभाल करनी चाहिये तथा विषयोंके प्रति मलिनता-बुद्धि—विषयबुद्धि होनी चाहिये। विषयोंसे हमें वृणा होनी चाहिये; ध्वराहट होनी चाहिये। पर हमारी स्थिति सर्वथा उलटी है, हमें ध्वराहट होती है विषयोंके अभावकी कल्पनासे। बस, यही त्रुटि है और इसे दूर करना है।

२०-गीतामें भगवान्ने बुद्धिमान्की परिभाषा की—‘न तेषु रमते बुधः’—‘भोगोंमें बुद्धिमान् पुरुष नहीं

रमते।’ अतएव हमें चाहिये कि भगवान्की कृपापर भरोसा करके हमलोग निरन्तर भोगोंसे सावधान रहें। किसी प्रलोभनसे, भयसे मन, कर्म, वाणीद्वारा पाप न बन जाय—इसके लिये हम सदा सचेष्ट रहें। भगवान्की कृपाके बलपर यह दृढ़ विश्वास रखें कि हमसे अब पाप नहीं बनेगा।

२१-जिस बातको हम महत्त्वकी मानते हैं, वह बात हमारे जीवनमें आनी चाहिये। जीवनका धर्म किताबमें नहीं होता; वह जीवनमें रहता है। धर्म वह है जो धारणामें आवे।

२२-किसी समाजका कोई व्यक्ति बिगड़ता है तो समूचा समाज कलंकित होता है। देशका व्यक्ति बिगड़ता है तो देश कलंकित होता है। इसी प्रकार ‘भगवान्का भक्त’ कहलानेवाला बिगड़ता है तो उसका कलंक भगवान्पर आता है तथा अन्य लोगोंकी भगवत्कार्योंकी ओर अरुचि उत्पन्न होती है। अतः भगवान्की ओर बढ़नेवालेको विशेष सावधान रहना चाहिये अपने कार्योंमें।

२३-भगवान्की ओर बढ़नेवालेमें सबसे पहली बात होनी चाहिये—आसुरी सम्पत्तिका त्याग। भगवान्की ओर बढ़नेवालेकी बड़ी भारी जिम्मेदारी है, बड़ा उत्तरदायित्व है। उस जिम्मेदारीको, उस उत्तरदायित्वको उसे निभाना चाहिये।

२४-जीवन पवित्र हो, जीवनमें सच्चाई आवे, जीवनमें शुभ विचार आवें, शुभ आचरण हों—यह साधनामें सबसे पहली आवश्यकता है। हम प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातें करें और प्रातः उठनेसे रात्रिमें सोनेतक जीवन उसके सर्वथा विपरीत बहता रहे—यह अपने आपको धोखा देना है। मनुष्यको सबसे पहले सच्चा भाव बनाना चाहिये—अपने प्रति, अपनोंके प्रति तथा सबके प्रति।

२५-साधकको चाहिये कि अपने जीवनको पवित्र बनावे। इसके लिये सबसे पहले दुर्विचार तथा दुष्कर्मसे चित्तको हटावे—अपने बलके भरोसे नहीं, भगवान्की कृपाके बलके भरोसे। जब दुष्कर्म बुरे लगने लगें, खलने लगें, उनकी उपस्थिति सहन न हो, तब समझना चाहिये कि रास्ता बैठ रहा है।

२६-‘कर्तव्य’ और ‘अधिकार’का परस्पर बड़ा भेद है। दोनोंमें कर्तव्यका स्थान ऊँचा है। कर्तव्यपालनसे अधिकार अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं, परंतु कर्तव्य-पालन करनेवालेको अधिकार-प्राप्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

आजकल इसके विपरीत हो रहा है। सब अधिकार चाहते हैं, कर्तव्यका पालन कोई भी नहीं करना चाहता। इसीसे सर्वत्र संघर्ष है, अशान्ति है।

२७—यह सिद्धान्त समझ लेना चाहिये कि जो कुछ हम चाहते हैं—सुख, मान, अधिकार आदि, वह हमें दूसरोंको देना आरम्भ कर देना चाहिये। वही हमारा दिया हुआ अनेकगुना होकर हमारे पास लौट आयगा। हम चाहें कि दूसरे हमें ये वस्तु दें, तो माँगनेकी क्रियामें तो संघर्ष, अशान्ति निश्चित है। अतएव अभ्यास डालना चाहिये—अपने जीवनमें देनेका—अपने पास जो कुछ अच्छी वस्तु है उसे वितरण करनेका। दूसरोंसे स्वयं कुछ आशा न रखे और दूसरे उससे जो आशा रखते हैं, उसे यथासाध्य अधिक-से-अधिक पूर्ण करता रहे।

२८—आशा-भङ्गका नाम ही प्रतिकूलता है और इसीको दुःख कहा जाता है। जगत्के किसी भी प्राणीसे, पदार्थसे, वस्तुसे, स्थितिसे किसी भी प्रकारकी आशा रखना—यह दुःखोंको बुलावा देना है। अतएव विवेक रखकर किसी भी प्राणी, पदार्थ, वस्तु, परिस्थितिकी आशा न रखे। यह आशा-त्याग ही निराशा है, यह परम सुखकी स्थिति है। 'नैराश्यं परमं सुखम्'।

२९—जो जगत्से, जगत्की सभी वस्तुओंसे सर्वथा निराश हो गया है और केवलमात्र भगवान्‌पर जिसका विश्वास टिक गया है, उसीको भगवान्‌का साक्षात्कार होता है। भगवान्‌को छोड़कर किसी अन्यकी आशा करना तो भगवत्‌प्रेममें व्यभिचार है।

३०—जगत्के पदार्थ भगवान्‌की पूजाके लिये आवश्यक नहीं हैं, उसके लिये आवश्यक है—भाव। अतएव पदार्थोंका संग्रह एवं उसके संग्रहकी आशाके बदले भगवान्‌की पूजाकी प्रवृत्ति और आशा होनी चाहिये।

३१—हमको जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, ये सब भगवान्‌ने कृपा करके हमें इसलिये दी हैं कि इनसे हमें जागतिक जीवनमें सुविधा हो और हमारा जीवन भगवान्‌की ओर बढ़ता रहे। परंतु हम इनका दुरुपयोग करते रहते हैं। हमें आँख इसलिये मिली है कि हम उसके द्वारा संत-महात्माओं-के दर्शन करें, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करें, मार्गमें किसी वस्तुसे टकरा न जायें, खान-पान आदिमें कोई हेय पदार्थ गृहीत न हो जाय। वाणी इसलिये मिली है कि इसके द्वारा

भगवान्‌का गुणानुवाद करें, उनका नाम लें। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंकी सार्थकता है कि वे भगवान्‌के कार्योंमें नियोजित हो जायें। पर हम अपनी इन्द्रियोंका दुरुपयोग करते हैं—उन्हें भगवान्‌की ओर न लगाकर भोगोंमें लगाते हैं।

३२—बुराईकी ओर मनकी जरा-सी भी प्रवृत्ति बहुत बुरी है। एक क्षणके लिये आप कोई गंदा चित्र देख लीजिये, कोई गंदा साहित्य पढ़ लीजिये, वह मनकी छिपी हुई बुराईको जगा देगा और वह बुराई भी प्रत्यक्ष हो जायगी। अतएव छोटी-से-छोटी बुराईसे भी सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

३३—इच्छा जहाँ अनन्य हो जाती है वहाँ तत्काल सिद्धि मिलती है। जहाँ इच्छा धीमी होती है, बहुमुखी होती है, वहाँ उसकी सफलता सम्भव नहीं। अतएव भगवत्‌प्राप्तिकी इच्छाको तीव्र एवं अनन्य बनाना चाहिये।

३४—स्वाधीन कौन है? जो आत्मवश है, मन-इन्द्रियोंका तथा भोगोंका दास नहीं है। पराधीन कौन है? जो विषयोंका गुलाम है। जो किसी भी सांसारिक बन्धनमें पड़ा है, पर जिसका मन मुक्त है, किसी भी इन्द्रियका वह गुलाम नहीं है तो वह स्वाधीन है। आज हम स्वाधीनताके नामपर इन्द्रियोंके गुलाम होते जा रहे हैं। यह बुद्धिभ्रम है।

३५—भगवान्‌की कृपा सबपर है, सर्वदा है, सर्वत्र है, पर उस कृपाको जो देख पाता है, समझ पाता है, वह उससे लाभ उठाता है। जो उसे नहीं देख पाता, नहीं समझ पाता, वह उस कृपाके लाभसे वञ्चित रह जाता है। अतएव अपने ऊपर भगवत्कृपाको देखने, समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

३६—भगवान्‌ सम हैं, भगवान्‌की कृपा भी सम है। भगवत्कृपामें कहीं भी विषमता नहीं है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि प्रत्येक अवस्थामें भगवत्कृपापर विश्वास करे और प्रत्येक परिस्थितिको भगवत्कृपाके साथ जोड़ दे। XXXX भगवान्‌का चिन्तन तथा भगवान्‌की कृपाका चिन्तन निरन्तर होता रहे।

३७—विषयोंमें उपरति और भगवान्‌की अखण्ड स्मृति—ये दो चीजें करनेकी हैं। जगत्के विषयोंके प्रति मन उपराम रहे; उनके प्रति मनमें आकर्षण न रह जाय, उनके प्रति मनमें श्रोम न रह जाय—(यह क्यों प्राप्त है, यह क्यों नहीं प्राप्त है? और मन भगवान्‌का, उनके नाम, रूप, लीला, माधुर्य, ऐश्वर्य, तत्त्व आदिका चिन्तन करे, मन उनके चिन्तनमें डूबा रहे। इतना हो जाय तो समझना चाहिये कि काम बन जायगा।

३८—जगत्के साथ सीधा सम्बन्ध न रख उसे भगवान् के नाते माने। माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदिके साथ हमारा सम्बन्ध भगवान्का दिया हुआ है—ऐसा मानना चाहिये। हमें भगवान्की ओरसे यह स्वाँग मिला है, इसीलिये उनके साथ हमारा सम्बन्ध है।

३९—भगवान्का चिन्तन न छूटे और सब छूट जाय—इस प्रकारकी चेष्टा करें।

४०—भगवान्को छोड़कर जगत्के पदार्थोंमें हमारी जो रति है, वह अज्ञान है, बन्धन है, मोह है। इसका त्याग करना होगा। भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ लें और उसी एकके नाते सबके साथ सम्बन्ध हों। जिस प्रकार पतिव्रताका ससुरालके लोगोंके साथ सम्बन्ध पतिको लेकर ही होता है, अलग किसीके साथ सम्बन्ध नहीं, कार्य नहीं, चिन्तन नहीं। इसी प्रकार भगवान्के नाते जगत्के सब सम्बन्ध होने चाहिये।

४१—अन्तःकरणकी शुद्धिका उपाय भगवच्चिन्तनके सिवा

और नहीं है। यह भगवच्चिन्तन किसी भी रूपमें हो सकता है—नामका, रूपका, धामका, लीलाका। भगवच्चिन्तन-परायणके समान कोई 'भाग्यवान्' नहीं; भगवान्का विस्मरण कर देनेवालेके समान कोई 'अभाग्य' नहीं। सारे पाप उसे ही घेरते हैं, सारे दुःख उसके पास ही आते हैं जो भगवान्का विस्मरण करता है। इसके विपरीत सारी शान्ति, सारे सद्गुण उसीके पास आते हैं, जो भगवान्का चिन्तन करता है। अतएव भगवच्चिन्तन जीवनका स्वभाव हो जाय। भगवान्की प्राप्तिसे भी भगवच्चिन्तन अति महत्त्वका है।

४२—मनुष्यका सर्वप्रथम और एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने जीवनको भगवान्के भजनमें लगा दे। मनुष्य-जीवनका जो यह महान् दुर्लभ अवसर है, यह भगवान्के भजनके लिये ही प्राप्त हुआ है। जगत्का सब कुछ चला जाय, कुछ भी प्राप्त न हो, पर यदि भगवान्का भजन हो गया तो सब कुछ मिल गया, सब कुछ रह गया।

आत्मनिवेदनपर एक दृष्टि

(एक वैचारिक प्रक्रिया)

(लेखक—प्रो० श्रीराधेद्वयामजी रस्तोगी)

‘आत्मनिवेदन’ शब्दसे अनायास ही श्रीमद्भागवतकी नवधा-भक्तिका बहुचर्चित पद हमारे स्मृति-पटलपर उभर आता है। हिरण्यकशिपुके यह पूछनेपर कि जो कुछ चिर-सुन्दर तुमने अपने शिक्षकसे सीखा हो और जिसपर तुम्हारा पूर्ण अधिकार हो, सो बतलाओ, इस प्रकार प्रह्लादने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।

क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भागवत ७ : ५ : २३-२४)

(१) भगवान् विष्णुके नाम, प्रशस्ति और गुण-कथाका श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) चरण-सेवा, (५) पूजन, (६) वन्दन, (७) तन्निमित्त-कार्य अर्थात् दास्य, (८) भगवान्के प्रति सख्य-भावकी जाग्रति, और (९) आत्मनिवेदन अर्थात् स्वयं समस्त वस्तुओंके साथ समर्पण—इन नौ प्रकारके सिद्धान्तोंका अभ्यास यदि

मनुष्य भगवान् विष्णुकी भक्तिके लिये करता है, तो मैं उसे शिक्षाके उच्च धरातलपर स्वीकार करता हूँ।

श्रीवल्लभाचार्यजीके अनुसार आत्मनिवेदनकी तात्त्विकता, किसी मनुष्यका अपने आत्माको परमात्माका ही ‘अंश’ अनुभव करनेमें निहित है। यह उसके अनन्तकालीन वियोगके अनुवर्ती पश्चात्तापमें, अपने सम्बन्धों और आश्रितों-का परमात्मामें, सम्पूर्ण समर्पण और अहंताकी परिसमाप्तिकी प्रक्रिया है। इस प्रकारके समर्पण-भावको रखनेवाला भक्त ईश्वरके सच्चे सेवकके रूपमें आत्मनिरीक्षण करता है। अर्थात् जैसे एक व्यापारिक संस्थाका व्यवस्थापक हजारों-लाखों रुपयोंकी सम्पत्तिका लेन-देन करता है, किंतु वह कभी भी अपनेको उसका स्वामी नहीं समझता, इसी प्रकार एक भक्त भी अपने शरीर और चेतनासे सांसारिक उपलब्धियों, सम्बन्धों और पारिवारिक सदस्योंको ईश्वरका समझकर देख-रेख करता है और उसकी (ईश्वरकी) इच्छाओंका पालन एक सेवककी भाँति करता है।

दोष या पापका जन्म प्राणीकी अहंता और ममता (मैं और मेरे-पन) में होता है। इस कारण वह अपेक्षाकृत अपने अलंकरणमें ही प्रतिबद्ध हो जाता है। यहाँ यह संकेत पर्याप्त है कि 'जीवात्मा' जो ईश्वरसे सही सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाते, इस कारणसे कि वे अपने स्वयंकी ओर तथा प्रत्येक वस्तुकी ओर भी असत्यसे सम्बन्धित होते हैं, अपने स्वनिर्मित विघ्नके संसारमें जीते हैं। यह माया शंकरकी (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) तुलनामें अधिक यथार्थ है।

सामान्यतः नवधा-भक्ति सभी सम्प्रदायोंके लिये (ग्राह्य) है। किंतु मुख्यतः श्रीवल्लभाचार्यजीकी सीख है कि जब आत्मनिवेदनसे दूसरे सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, तब वह अनुकरणीय शरणागति होती है। यहाँसे मनुष्य ईश्वरके प्रति अपने 'स्व' के सम्पूर्ण-समर्पणमें अनुभव करता है कि उसकी प्रकृतिके सभी कार्य—व्यापार मूलतः ईश्वरकी सेवा और उपासनाके निमित्त ही हैं। यही उनके पुष्टिमार्गाका केन्द्र-विन्दु है। एक विश्रुत श्लोकमें उन्होंने स्पष्ट कहा है—

संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥

(निरोधलक्षणम्, १२वाँ श्लोक)

अर्थात् 'सांसारिक कामोंमें लगी हुई दुष्ट इन्द्रियोंके हितके लिये समस्त वस्तुओंका श्रीजगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ सम्बन्ध जोड़ दे।'

श्रीवल्लभाचार्यने स्वतः ईश्वरद्वारा प्रतिपादित आदेशका (प्राचीन-विस्मृत ब्रह्म-सम्बन्धका) शास्त्रीय विवेचन या पुनर्विकास किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्त-रहस्य'में उन्होंने स्पष्ट किया है—

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।

साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

अर्थात् 'श्रावण मासके शुक्ल पक्षकी एकादशीय अर्द्ध-रात्रिमें साक्षात् भगवान्ने प्रकट होकर जो कुछ कहा है, वह मैं अक्षरशः कह रहा हूँ कि ब्रह्मसम्बन्धद्वारा प्रत्येक शरीरात्मा सब दोषोंसे मुक्त हो जाता है। दोष पाँच प्रकारके माने गये हैं।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन ।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥

(सिद्धान्तरहस्यम् ४)

निवेदिभिः समर्थैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।

अन्य किसी मार्गमें इस पापसे मुक्ति नहीं है। इसलिये असमर्पित वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना चाहिये और जो भगवान्को निवेदन कर चुके हैं, वे सब कुल्लके समर्पणके बाद ही सब वस्तुओंद्वारा आत्मनिर्वाह करें।

तथा कार्यं समर्थैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।

(सिद्धान्तरहस्यम्)

इस प्रकार सभी वस्तुएँ विशुद्ध ईश्वरीय हो जाती हैं, जैसे कोई भी जल, चाहे अच्छा हो या बुरा, गङ्गामें मिल जानेपर गङ्गाकी पवित्रताको पा लेता है।

इस सम्बन्धमें हमें स्मरण रखना चाहिये कि यह ईश्वरके साथ आत्माकी एकनिष्ठताका वह प्रकार नहीं है, जिसमें आत्मा पूर्णरूपसे ईश्वरमें लीन हो जाता है, वरं साधारणतः इस बातको सूचित करता है कि जिस प्रकार वह सब जो गङ्गामें प्रवाहित होता है, गङ्गाके सदृश है, उसी प्रकार आत्म-निवेदनके परिणामस्वरूप प्रत्येक वस्तु अलौकिक हो जाती है।

एतदर्थः, श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्म-सम्बन्धके संस्कारको स्थापित अथवा पुनर्विकसित किया है, जो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णवको अपेक्षित है। सर्वप्रथम नवीन अभ्यासी-को दिया जानेवाला मन्त्र है—'श्रीकृष्णः शरणं मम'। और जो भी पुरुष-नारी या बच्चा इसमें संस्कृत होता है, उससे अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयंको तथा अपनी प्रत्येक वस्तु या प्रक्रियाको ईश्वरके समक्ष निवेदित कर दे और 'ब्रह्म-सम्बन्ध'का उत्सुक जीव ईश्वरके वियोगकी अनन्तकालीन पीड़ाको अनुभव कर एक तुलसीदल उठाता है और बड़ी विनम्रतासे श्रीकृष्णके चरणोंमें अपने गुरु (श्रीवल्लभाचार्यकी संतति) के माध्यमसे, अपने स्वयंको, अपने परिवारको और अपनी सम्पत्तिको सम्पूर्ण समर्पणके भावसे अधोलिखित शब्दोंमें समर्पित कर देता है।

“अनन्त वर्षोंसे मैं श्रीकृष्णसे वियुक्त हूँ। इस वियोगके कारण अलौकिक ताप-क्लेशका अनुभव तथा

आपके मिलनसे जो आनन्दानुभव होना चाहिये, वह भी नहीं हो रहा है। इस अवस्थामें 'मैं हूँ' इस अवस्थासे मुक्त होकर मैं अलौकिक तापक्लेशानन्दका अनुभव कर सकूँ, इसलिये भगवान् श्रीकृष्णके लिये मैं अपने देह-प्राण-इन्द्रिय-अन्तःकरण तथा उनके धर्म-दारा-गृह-पुत्र-आप्त- (सम्बन्धिजन) वित्त, इहलोक-सम्बन्धि सर्वपदार्थ तथा इहलोक और परलोक एवं पारलौकिक सकल पदार्थको आत्माके साथ समर्पण कर रहा हूँ। 'कृष्ण ! मैं तेरा हूँ ।'

यही पुष्टिमागीय दीक्षा है, जो 'ब्रह्म-सम्बन्ध' नामसे विधुत है। वैदिक-ब्राह्मण तथा गीता और श्रीमद्भगवतके पुराणपुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) एक ही हैं और क्योंकि यह दीक्षा वैदिक आख्यानोपर आधारित है, अतः 'ब्रह्म-सम्बन्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जीवन और ब्रह्मका सम्बन्ध या सम्पर्क नया नहीं है, अपितु शाश्वत है। यह केवल जीवके द्वारा पुनः निश्चित किया जा सकता है, जो सांसारिक लिप्साके कारण इसे भूल गया है। इस दीक्षाके मुख्य स्वरूप हैं—

(१) जीवका विनम्र निवेदन एवं अनुत्तम-आत्मासे पुनः स्मरण कि वह ईश्वरका अंश है।

(२) श्रीकृष्णको मूल-आश्रय मानकर सम्पूर्ण भावसे उन्हें अपनेको समर्पित कर देना (शरणागति)।

(३) अपने स्वयंको, परिवारको और सभी सम्बन्धित वस्तुओंको श्रीकृष्णको सौंप देना तथा अपनेको उनके एक सेवकके रूपमें स्वीकार करना (आत्मनिवेदन और समर्पण)।

यह कहना सर्वथा ठीक नहीं है कि ब्रह्म-सम्बन्ध कोई नयी चीज है, जिसे श्रीवल्लभाचार्यजीने प्रस्तुत किया है। वल्लभाचार्यजीकी शिक्षाओंका आधार वेद, ब्रह्मसूत्र, गीता और श्रीमद्भगवत है। ब्रह्म-सम्बन्धकी उपर्युक्त तीनों प्रमुख विशेषताएँ इन सार्वभौमिक धार्मिक कृतियोंसे निःसृत हैं, जो सर्वाच्च शक्ति-सम्पन्न हैं। जैसा कि निम्नलिखित रूपमें स्पष्ट है।

जीव ईश्वरका अंश है।

(अ) वेदोंके कथन, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' का

तात्पर्य है कि सम्पूर्ण जगत् और सभी जीव ब्रह्मके अंश हैं (पाद=अंश)।

(ब) ब्रह्मसूत्रोंमें 'अंशो नाना व्यपदेशात्।' से यही स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव है।

(स) श्रीमद्भगवतके दशम स्कन्धके ८७ वें परिच्छेद-में वेद-स्तुति जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव-सम्बन्ध व्यक्त करती है।

(द) गीतामें स्पष्ट उल्लेख है। 'इस देहमें जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । १५ । ७)

इस प्रकार स्पष्ट हुआ, जीव ईश्वरका अंश है। जीव बाह्य संसारसे सम्बन्धित होते हुए भी उसी एकका आश्रित है। इस संदर्भमें डा० राधाकृष्णन्की व्याख्या है—

'जीवनकी सिद्धि उसकी विशिष्ट प्रकृतिके प्रकाशनमें निर्मित होती है। यदि वह ईश्वरके लिये एक सही स्थिति (दृष्टिकोण) अपनाता है, तो उसकी प्रकृति उन प्रभावोंसे विशुद्ध हो जाती है, जो इसे समाप्त कर देते हैं या बक्र बना देते हैं और उसके व्यक्तित्वकी सचाई अपनी विशिष्टताके साथ उभर आती है। विभिन्न प्राणी अपनी तात्त्विकतामें ईश्वरके साथ एक हैं। बाह्य-जगत्में प्रत्येक ईश्वरका आंशिक रूप है। हममें-से प्रत्येक दैवी-चेतनाका विकिरण है।'

शरणागति—

(क) वेद-श्रुतिका कथन है—'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।' अर्थात् तू जो मोक्ष चाहता है, ब्रह्मका आश्रय ले।

(ख) श्रीमद्भगवतके छठे स्कन्धमें हम देवताओं-तकको शरण खोजते हुए कहते पाते हैं—

'हम सभी आश्रयके लिये, मूलतः अप्रतिम प्रकाशकी ओर जाते हैं। हमारी भक्तिका प्रयोजन और अन्तिम कारण जो सम्पूर्ण सृष्टिके रूपमें प्रकट है, इस ओर बढ़ते हुए जननी और आत्मशक्तिके रूपमें प्रतीत होता है और सभीको आश्रय प्रदान करता है, वह परमात्मा हमें अपने भक्तोंके रूपमें सुख-शान्ति प्रदान करेगा।'

तमेव देवं त्वमात्मदैवतं परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
ब्रजाम सर्वेशरणं शरण्यं स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ९ । २७)

(ग) गीताके अठारहवें अध्यायमें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

अर्थात् हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो । उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्ति और सनातनधामको प्राप्त होगा ।

आत्मनिवेदन और समर्पण—

(क) बृहदारण्यकोपनिषद्में हम पाते हैं—

अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां
राजा । सर्वानि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व
एत आत्मानः समर्पिताः । (२ । ५ । १५)

‘ब्रह्म सभी प्राणियोंका सम्राट् है । सभी प्राणी, समस्त देवतागण, सम्पूर्ण लोक और सृष्टिब्रह्ममें केवल आश्रय ही नहीं खोजते, अपितु अपने स्वयंको आश्रित करके अपनी सभी सेवाओंको उसे समर्पित कर देते हैं ।’

(ख) भागवत एकादशस्कन्धका यह श्लोक भी इसकी पुष्टि करता है—

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।

दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥

(११ । ३ । २८)

‘अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ—दान, तप, मन्त्र, जप, पवित्र आचरण और वे समस्त पदार्थ, जो अपने लिये इष्ट हैं—स्त्री, पुत्र, घर और जीवनतक, उस परमात्म-तत्त्वको निवेदन करना सीखना चाहिये ।’

पुनः नवम स्कन्धमें श्रीकृष्णने कहा है—

ये दारागारपुत्रासान् प्राणान् वित्तमिम परम् ।

हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

(९ । ४ । ६५)

‘मैं उन्हें त्यागनेका साहस कैसे कर सकता हूँ,

जो इहलोक और परलोकमें अपने स्त्री, घर, पुत्र और सम्बन्धियोंको, यहाँतक कि अपने जीवन और सुखके अनुरागको छोड़कर अपने रक्षकके रूपमें मुझे ढूँढ़ते हैं ।’

(ग) गीताके नवम अध्यायमें श्रीकृष्ण कहते हैं—

‘हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।’

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा निरूपित ब्रह्म-सम्बन्ध वेदश्रुताओं और श्रीमद्भागवत तथा गीताकी सूक्तियोंसे निष्पन्न है । यह कोई नयी खोज नहीं है, वरं वेदों तथा श्रीमद्भागवत और गीताके तत्त्वोंका अतिरिक्त और स्पष्ट पुनर्मूल्याङ्कन है ।

श्रीवल्लभाचार्यने अपनी व्याख्यामें भक्तिमार्गके विकसित अर्थकी पुष्टि की है । ईश्वरने अपनेको एक नवीन रूपमें इस मार्गके दिग्दर्शनके लिये प्रकट किया, जो कि ‘पुष्टिमार्ग’ या ‘दैवी-कृपा’का मार्ग कहा गया । इसमें ईश्वरने नेतृत्व ग्रहण कर मानवात्माओंको उसमें आमन्त्रित किया है । यह उसके (ईश्वरके) अनुग्रहकी पूर्णताके कारण था कि उसने उसे किया था और उसकी कृपा पूर्णतः मनुष्यके साथ थी । जब भी वह उस मार्गसे चला, उस कृपानिधान और हमारे सत्के अधिष्ठाताने हमारे लिये इसका मार्गदर्शन कराया । एक मार्ग जिसपर सभी चल सकते हैं, एक मार्ग जो किसी विशेष गुणकी माँग नहीं करता, एक मार्ग जिसमें कोई सोपान नहीं है, न कोई अनुशासन है और न भ्रममें ही डालनेके लिये कोई दार्शनिक-भूमिका है । यह वह मार्ग है, जो हमारे मानव-जीवनके लघु-आयामोंसे सीधे परमात्माके सम्पर्कमें ले जाता है । इस मार्गपर स्त्रिय और शूद्र, निरक्षर और मूढ़ सुरक्षितरूपसे ईश्वरके माधुर्य-रूपका उत्तरोत्तर आनन्द अनुभव करते हुए चर सकते हैं ।

श्रीवल्लभाचार्यने ‘दैवी-कृपाको’ सर्वोपरि माना है । सामान्य दृष्टिसे ज्ञान और कर्मको ही नहीं, भक्तिको भी ‘स्व’ के उत्क्रमणके रूपमें माना गया है, जब कि श्रीवल्लभाचार्यके शब्दोंमें यह ईश्वरीय कृपाकी प्रतिवर्ती क्रिया है और भक्तिकी उत्पत्ति, विकास और उसकी पूर्णता ईश्वरके अधीन है । भक्तिकी भूमिका प्रत्येक वस्तुके साथ ईश्वरमें

सम्पूर्ण समर्पण की है। समर्पण मस्तिष्क, शरीर और आत्माका और इतने विस्तृत रूपमें वे सभी अन्तर्लीन हो जाते हैं कि ईश्वरसे पूर्ण हो जाते हैं। परमात्माके प्रति व्यक्तिके इस समर्पणका तात्पर्य है कि पुष्टि दूरगामी नहीं है और न तो शरणमें जानेवालेपर है, न शरणागतिपर; अपितु उसपर है जिसकी शरणमें वह जाता है। इस प्रकारके समर्पणका प्रेम वस्तुतः मोक्षकी कामनाको पीछे छोड़ देता है।

इस सम्बन्धमें डा० राधाकृष्णन्ने सफल निरीक्षण किया है—

‘प्रपत्ति (समर्पण) में हम सामान्यरूपसे अपनेको ईश्वरके लिये समर्पित कर उसके हाथोंपर छोड़ देते हैं कि वह (ईश्वर) हमारे प्रति अपने अनुसार व्यवहार करे। यह विनम्र विद्वस्त एवं स्वाभाविक प्रयत्न है, जो आत्म-समर्पणकी सहज और तीक्ष्ण शुचितাকে सम्बन्धपर जोर देता है। भक्तिसाधनाकी तीव्रतासे अपेक्षाकृत इस आत्मसमर्पणकी पूर्णतामें बौद्धिक कृपाका ज्ञान प्राप्त होता है। जब हम अपने आत्मसे रिक्त होते हैं, तो हमारी सम्पूर्तिके लिये परमात्मा स्थान ग्रहण करता है। इस ईश्वर-प्रतिके मार्गमें बाधक होते हैं—हमारे अपने ही गुण, दम्भ, ज्ञान, मृदुल कामनाएँ, संचित धारणाएँ और पूर्वाग्रह। हमें अपनी सम्पूर्ण

कामनाओंसे अपनेको रिक्त कर देना चाहिये और मुक्त होकर परमात्मतत्त्वपर विश्वास करना चाहिये। ईश्वरीय परम्परामें योग्य होनेके लिये हमारी सभी ममतास्पद वस्तु समर्पित होनी आवश्यक है।’

उपर्युक्त कथनके अनुसार आत्मसमर्पण सम्पूर्णका होना चाहिये और प्राणीके अन्तर्बाह्य दोनों भावोंपर समान दृष्टि होनी चाहिये। यदि प्राणीने एक भाग समर्पित कर दिया और दूसरा अपने लिये रख लिया, तो आत्मसमर्पण न केवल औपचारिक होगा, अपितु प्रापञ्चिक भी, जो कृपाको आकर्षित नहीं कर सकता। यदि हमारी भक्ति और समर्पणके पीछे कामनाएँ और अहम्भन्य माँग है, तब भी अलौकिक कृपा हमसे पीछे हटती है। समर्पण और स्वार्थ—दोनों एक साथ अलौकिक भवनमें प्रवेश नहीं पा सकते। रूपान्तर सम्पूर्णका ही होना चाहिये।

ईश्वरकी कृपा सदा सक्रिय होती है। यद्यपि ईश्वरके प्रति सेवा-भावना भी उसीकी देन है तथापि कोई भी आत्मा उसे नहीं बुला पाती, जो कि उसीकी ही कृपासे प्रेरित है। दोके बीचका यह सम्बन्ध सहज और पूर्ण है। पापी ईश्वरको खोजता हुआ सुरक्षित होता है और ईश्वर पापीको खोजता हुआ संतुष्ट होता है। (शेष आगे)

बस, केवल तुम्हीं हो

करना, न करना; न कराना, कराना।
कैसे, क्या, कब, क्यों करना-कराना ॥
करो तुम वही, जो मन तुम्हें भाता।
मुझे न कुछ भी है पाना, न पाना ॥
हो कुछ, न मेरा कुछ आता-जाता।
मैं तो कठपुतली, तुम्हें है नचाना ॥
केवल हो छाये तुम ही सभीमें।
यह सब तुम्हारा ही ताना-बाना ॥
रस भी तुम्हीं हो, रसिक भी तुम्हीं हो।
तुम्हींको, बस, रस है चखना-चखाना ॥
लीला तुम्हीं, लीलामय तुम्हीं हो।
दर्शक तुम्हीं हो, धरे रूप नाना ॥

गांधी-शताब्दीके मङ्गलप्रसङ्गमें गांधीजीकी दिव्य वाणी

सच्ची शिक्षा—कुविचारोंसे बचना

सिवा चरित्रगाठनके धार्मिक और नैतिक शिक्षाका कुछ अर्थ नहीं है। इसलिये मैं लड़के और लड़कियोंसे कहता हूँ कि परमात्माका कभी भरोसा न छोड़ो और इसलिये अपना भी नहीं। याद रखो कि तुमने अपने मनमें एक भी बुरे विचारको स्थान दिया तो तुममें विश्वासकी कमी है। असत्य, अनुदारता, हिंसा, विषय-विकार—ये सब बातें आत्मविश्वास न होनेपर ही उत्पन्न होती हैं। गीतामें यही बात प्रत्येक श्लोकमें कही गयी है। यदि मैं ईसाके गिरि-शिखरपरके उपदेशका सारांश दूँ तो वह भी यही है। कुरानमें भी मैंने यही बात पायी है। हमारे अपने-आपसे अधिक हमारा और कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसलिये यदि तुम बहादुर लड़के-लड़की हो तो इस प्रकारके सभी विचारोंसे जूझना तुम्हारा धर्म है। इस दुनियामें बुरे विचारोंके उकसाये बिना कोई पापकर्म नहीं किया गया है। अपने दिलमें उठनेवाले प्रत्येक विचारकी जाँच तुम्हें सावधानीसे करनी है। कई विद्यार्थियोंने, लड़के और लड़कियों दोनोंने, मुझसे कहा है कि उनकी बुद्धि मेरी बातोंको स्वीकारती तो है, मगर अपने विचारोंपर काबू रखना वे असम्भव पाते हैं और इसलिये वे अन्तमें हार मानते हैं, निराश हो जाते हैं और तब कुछ गंदी पुस्तकोंसे उकसाये जाकर बुरे विचार रखने लगते हैं।

हम सभीके बीच दो क्रियाएँ चलती हैं। उनका भेद मैं अच्छी तरह समझा देना चाहता हूँ। सिद्धों और संतोंके अतिरिक्त सबके मनमें बुरे विचार उठेंगे ही। इसलिये ईश्वरसे यह प्रार्थना करनी आवश्यक है कि 'हे परमात्मन् ! हमें बुरे विचारोंसे बचा।' यह क्रिया हमारा लाभ ही करती है। दूसरी क्रिया है—बुरे विचारोंको सोचना और उन्हें मस्त रहना। यह अत्यन्त खतरनाक और हानिकारक क्रिया है और मैं तुमसे सारी शक्ति लगाकर इसीको मार भगानेके लिये कहता हूँ। हम सभी यह निश्चय कर सकते हैं कि कैसे अतिथिको हमारे हृदयमें स्थान मिलना चाहिये। हम शत्रुकी चोटसे भले ही न बच सकें, मगर उसे रोकनेमें मर जाना तो हमारे हाथ है। यह एक उपाय है। XXXX ('शिक्षा और संस्कृति', पृष्ठ ५८-५९)

ज्ञानकी इतिश्री—चरित्र-निर्माण

...आप भविष्यकी आशा हैं। जब आप अपने स्कूल और कालेजसे निकलकर सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश करेंगे, तब आपको इस देशकी निर्धन जनताका नेतृत्व ग्रहण करना होगा। इसलिये मैं चाहूँगा कि विद्यार्थियोंमें जिम्मेदारी वहन करनेकी भावना होनी चाहिये और अत्यन्त सुचारुरूपसे उसका प्रदर्शन होना चाहिये। परंतु यह एक विलक्षण और साथ ही दुःखकी बात है कि जब विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर देते हैं, तब उनमेंसे ऐसे विद्यार्थियोंमें, जो अपने विद्यार्थी-जीवनमें उच्च भावोंको प्रश्रय देते रहे हैं, अधिकांश इस भावनासे रहित हो जाते हैं। उनमेंसे बहुसंख्यक रोटी और बोटीके फेरमें पड़ जाते हैं। यकीनन, इसमें कहीं भूल अवश्य है। इसका एक स्पष्ट कारण है। प्रत्येक शिक्षाशास्त्री और प्रत्येक ऐसे व्यक्तिका, जिसका विद्यार्थियोंके साथ कुछ भी सम्पर्क रहा है, यह अनुभव है कि हमारी शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है। यह देशकी आवश्यकताओं, निश्चितरूपसे दरिद्र भारतकी आवश्यकताओंके मेलमें नहीं है। जो शिक्षा हमें दी जाती है, उसका हमारे घरेलू जीवन तथा ग्राम्य जीवनके साथ कोई सामञ्जस्य नहीं है...

वर्तमान परिस्थितिको स्वीकार करते हुए हमें इस बातपर विचार करना है कि विद्यार्थियोंके लिये क्या करना सम्भव है और हम देशकी सेवा करनेके लिये और अधिक क्या कर सकते हैं ? मुझे और बहुतोंको, जो यह देखनेको उत्सुक हैं कि विद्यार्थी-जगत् अपने कार्योंका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करे, यह उत्तर मिलता है कि विद्यार्थियोंको अपने भीतर और बाहर अपने व्यक्तिगत आचरणकी खोज करनी चाहिये। मुहब्बत शिक्षाका निर्माण करनेके लिये व्यक्तिगत जीवनकी पवित्रता पहली आवश्यक शर्त है। हजारों विद्यार्थियोंके साथ मेरा सम्पर्क और पत्र-व्यवहार, जो मैं लगातार विद्यार्थियोंके साथ करता रहता हूँ और जिसमें वे अपने आन्तरिक भावोंको प्रकट करते रहते हैं तथा मुझे अपना विश्वासपात्र समझते हैं, यह विलकुल स्पष्टतः प्रकट करता है कि अभी बहुत कुछ करना शेष है। मुझे विश्वास है कि आप मेरे कथनका तात्पर्य भलीभाँति समझते हैं। हमारी

भाषाओंमें विद्यार्थीके लिये एक सुन्दर शब्द है—ब्रह्मचारी। मुझे आशा है कि आप ब्रह्मचारीका अर्थ समझते हैं। ब्रह्मचारीका अर्थ है—ईश्वरका खोजी। वह जो कम-से-कम समयमें इस प्रकार आचरण करता है कि ईश्वरके निकट पहुँच जाय। संसारके सभी बड़े-बड़े धर्म परस्पर भेद रखते हुए भी इस मूलभूत सिद्धान्तपर एक हैं कि कोई भी पुरुष हो अथवा स्त्री, अपवित्र हृदय लेकर ईश्वरके सामने नहीं जा सकता। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान, वेदोंका पाठ, संस्कृत, लैटिन, यूनानी आदि भाषाओंकी यथार्थ जानकारीसे हम तबतक किंचित् लाभ नहीं उठा सकते, जबतक वे हममें हमारे हृदयको नितान्त रूपसे विशुद्ध करनेके संस्कारकी क्षमता उत्प्रेरित नहीं करते। ज्ञानकी इतिश्री चरित्र-निर्माण होना चाहिये।

('शिक्षा और संस्कृति', पृष्ठ ५६-५७)

शिक्षाकी नींव—सत्य और पवित्रता

.....सर्वप्रथम पवित्र हृदय धारण करनेसे ही पवित्रता आती है। हृदयमें जो भाव निहित रहते हैं, वही बाह्य आचरणों और बाह्य व्यवहारोंका रूप धारण करते हैं। जो बालक अपना मुँह पवित्र रखना चाहता है, वह अपने मुँहसे कभी अपशब्द नहीं निकालता। यह बात सचमुच अत्यन्त स्पष्ट है। वह अपने मुखमें किसी ऐसी बातको स्थान नहीं देगा, जो उसकी बुद्धि और उसके मस्तिष्कको धूमिल कर दे और उसके मित्रोंको भी क्षति पहुँचाये।

('शिक्षा और संस्कृति', पृष्ठ ५९)

शिक्षामें अहिंसा

शिक्षामें अहिंसा हो तो उसका विद्यार्थियोंके आपसी सम्बन्धोंपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना चाहिये। जहाँ सारा वायुमण्डल अहिंसाकी शुद्ध सुगन्धसे महकता हो, वहाँ लड़के और लड़कियाँ भाई-बहिनोंकी तरह साथ-साथ आजादीसे, किंतु आत्म-संयमपूर्वक रहेंगे; शिक्षकों और विद्यार्थियोंके बीच पिता-पुत्रका सम्बन्ध होगा तथा उनमें परस्पर प्रेम और विश्वास होगा। यह शुद्ध वातावरण स्वयं ही अहिंसाका एक सतत पदार्थ-पाठ होगा। ऐसे वातावरणमें पले हुए विद्यार्थी अपने विचारोंकी उदारता और विशालतासे तथा सेवाकी विशेष प्रतिभासे अपना

नाम रोशन करते रहेंगे। उनके मार्गमें सामाजिक बुराइयोंकी कोई कठिनाई पेश नहीं आयेगी; क्योंकि उनके प्रेमकी उत्कटता उन बुराइयोंको जलाकर खाक कर देनेके लिये काफी होगी। 'अहिंसाके ऐसे वातावरणमें पला हुआ नवयुवक अपने ही या दूसरे धर्मवाले किसी भाईसे लड़नेका कभी कैसे विचार कर सकता है?.....'

इस कारण शिक्षा-शास्त्रियोंके हाथोंमें तो उसका (अहिंसाका) स्वरूप शुद्धतम प्रेमका होना चाहिये, जो सदा ताजा रहे और प्रत्येक कार्यमें प्रकट होनेवाला जीवनका निरन्तर उछलता हुआ स्रोत बने। अहिंसाके सूर्यके सामने घृणा, क्रोध और द्वेषरूपी अन्धकारके बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। शिक्षामें अहिंसा स्पष्ट और दूरतक चमकती है। और जैसे सूर्यको किसी भी तरह छिपाया नहीं जा सकता, वैसे ही अहिंसा छुपाये नहीं छुपती।

('शिक्षा और संस्कृति', पृष्ठ ६५-६६)

बालकोंके नैतिक सुधारकी समस्या

जो शिक्षा-प्रणाली साहित्यिक योग्यतापर ही एकान्त जोर देती है, वह दुराचारको रोकनेके लिये अनुपयोगी ही नहीं है, बल्कि उससे उलटे बुराईको उत्तेजना ही मिलती है। जो बालक सार्वजनिक शालाओंमें दाखिल होनेके पहिले निर्दोष थे, शालाके पाठ्यक्रमके समाप्त होते-होते वे ही दूषित, स्वैर और नामर्द बनते देखे गये हैं। बिहार-समितिने बालकोंके मतपर धार्मिक प्रतिष्ठाके संस्कार जमानेकी सिफारिश की है। लेकिन 'बिस्लीके गलेमें धंटी कौन बाँधे?' अकेले शिक्षक ही धर्मके प्रति आदर-भावना पैदा कर सकते हैं। लेकिन वे स्वयं इससे शून्य हैं। अतएव प्रश्न शिक्षकोंके योग्य चुनाव प्रतीत होता है। मगर शिक्षकोंके योग्य चुनावका अर्थ होता है, या तो अबसे कहीं अधिक वेतन या फिर शिक्षणके ध्येयका कायापलट याने शिक्षाको पवित्र कर्त्तव्य मानकर शिक्षकोंका उसके प्रति जीवन अर्पण कर देना। रोमन कैथोलिकोंमें यह प्रथा आज भी विद्यमान है। पहला उपाय तो हमारे-जैसे गरीब देशके लिये स्पष्ट ही असम्भव है। मेरे विचारमें हमारे लिये दूसरा मार्ग ही सुलभ है। लेकिन वह भी उस शासन-प्रणालीके अधीन रहकर सम्भव नहीं, जिसमें हरेक चीजकी कीमत आँकी जाती है और जो दुनिया-भरमें ज्यादा-से-ज्यादा होती है।

अपने बालकोंके नैतिक सुधारके प्रति माता-पिताओंकी

लापरवाहीके कारण इस बुराईको रोकना और भी कठिन हो जाता है। वे तो बच्चोंको स्कूल भेजकर अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री मान लेते हैं। इस तरह हमारे सामनेका काम बहुत ही विप्रादपूर्ण है। लेकिन यह सोचकर आशा भी होती है कि तमाम बुराइयोंका एक रामबाण उपाय है और वह है—आत्म-शुद्धि। बुराईकी प्रचण्डतासे घबरा जानेके बदले हममेंसे हर एकको पूरे-पूरे प्रयत्नपूर्वक अपने आस-पासके वातावरणका सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिये और अपने आपको ऐसे निरीक्षणका प्रथम और मुख्य केन्द्र बनाना चाहिये। हमें यह कहकर संतोष नहीं कर लेना चाहिये कि हममें दूसरोंकी-सी बुराई नहीं है और स्वाभाविक दुराचार कोई स्वतन्त्र अस्तित्वकी चीज नहीं है। वह तो एक ही रोगका भयंकर लक्षण है। अगर हममें अपवित्रता भरी है, अगर हम विषयकी दृष्टिसे पतित हैं, तो पहले हमें आत्म-सुधार करना चाहिये और फिर पड़ोसियोंके सुधारकी आशा रखनी चाहिये। आजकल तो हम दूसरोंके दोषोंके निरीक्षणमें बहुत पड़ हो गये हैं और अपने-आपको अत्यन्त निर्दोष समझते हैं। परिणाम दुराचारका प्रचार होता है। जो लोग इस बातके सत्यको महसूस करते हैं, उन्हें पता चलेगा कि यद्यपि सुधार और उन्नतिके प्रश्न अभी आसान नहीं होते तथापि वे बहुत कुछ सम्भवनीय हैं।

('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ७०-७१)

विद्या धर्मेण शोभते

...कितनी देरसे अपने सम्मुख लिखा हुआ एक सूत्र-वाक्य देख रहा हूँ—'विद्या धर्मेण शोभते।' यह वाक्य सत्य है। धर्मके बिना विद्या या शिक्षाका परिणाम शून्य ही होता है। यह बात मैं भारत-भ्रमण करते समय स्पष्ट देख सका हूँ। इससे प्रश्न यह उठता है कि सच्ची शिक्षा क्या है? इसका उत्तर मैंने अनेक बार दिया है। शिक्षा किस प्रकार दी जाय?—इसका झगड़ा पीछे तय कर लिया जायगा। किंतु इस समय तो हमें किसी निश्चित पद्धतिके अनुसार शिक्षा देनी चाहिये और उसमें धर्मके तत्त्वका समावेश करना चाहिये। धर्म विचारका नहीं, आचरणका विषय है। यह भी भलीभाँति ध्यानमें रखना चाहिये कि यह भाषाका भी विषय नहीं है। शिक्षा तो शिक्षक अपने आचरणसे ही देता है।

('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ३१)

शिक्षा और सामुदायिक प्रार्थना

एक विद्यार्थीसे प्रश्नोत्तर

[किसी राष्ट्रीय संस्थाके प्रधानके नाम एक विद्यार्थीने एक पत्र लिखा है, जिसमें उसने वहाँकी प्रार्थनामें न शामिल होनेके लिये क्षमा माँगी है। वह पत्र तथा गाँधीजीके तत्सम्बन्धी विचार नीचे दिये जाते हैं। —सम्पादक]

प्रश्न—“प्रार्थनापर मेरा विश्वास नहीं है। इसका कारण यह है कि मेरी धारणा है कि ईश्वर-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी प्रार्थना हमको करनी चाहिये। मुझे कभी यह आवश्यक नहीं प्रतीत होता कि मैं अपने लिये एक ईश्वरकी कल्पना करूँ। यदि मैं उसके अस्तित्वके माननेकी झंझटमें न पड़ूँ तथा शान्त और शुद्ध हृदयसे अपना काम करता जाऊँ तो मेरा बिगड़ता क्या है ?

“सामुदायिक प्रार्थना तो बिल्कुल ही व्यर्थ है। क्या इतने आदमी मामूली-से-मामूली बातपर भी मानसिक एकाग्रताके साथ बैठ सकते हैं? यदि नहीं तो छोटे-छोटे और अबोध बच्चोंसे यह आशा कैसे रखी जाय कि वे अपने चञ्चल मनको हमारे महान् शास्त्रोंके जटिल तत्त्व—उदाहरणार्थ आत्मा, परमात्मा और मनुष्यमात्रकी एकात्मता इत्यादि वाक्योंके गूढ़ भावोंपर एकाग्रचित्त हों? इस महान् कार्यको अमुक नियत समयमें तथा विशेष व्यक्तिकी आज्ञा पानेपर ही करना पड़ता है। तथा उस कल्पित ईश्वरके प्रति प्रेम इस प्रकारकी किसी यान्त्रिक क्रियाके द्वारा बालकोंके हृदयमें पैठ सकता है? हर तरहके स्वभाववाले लोगोंसे यह आशा रखना कि वह कल्पित ईश्वरके प्रति यों ही प्रेम रखें, इसके बराबर नासमझीकी बात और क्या हो सकती है? इसलिये प्रार्थना जबरन न करायी जानी चाहिये। प्रार्थना वे करें जिनको उसमें रुचि हो और प्रार्थनामें रुचि न रखनेवाले उसे न करें। बिना दृढ़ विश्वासके कोई काम करना अनीतिमूलक एवं पतनकारी है।”

उत्तर—“हम पहले इस अन्तिम विचारकी समीक्षा करते हैं। क्या नियम-पालनकी आवश्यकताको भलीभाँति समझे बिना उसमें बँधना अनीतिपूर्ण और पतनकारी है? स्कूलके पाठ्यक्रमकी उपयोगिताको अच्छी तरह जाने बिना उसके पाठ्यक्रमके अनुसार उसके अन्तर्गत विषयोंका अध्ययन करना क्या अनीतिपूर्ण और पतनकारी है? अगर कोई

लड़का अपनी मातृभाषा सीखना व्यर्थ मानने लग जाय तो क्या उसे मातृभाषा पढ़नेसे मुक्त कर देना चाहिये ? क्या यह कहना अधिक ठीक न होगा कि लड़कोंको इन बातोंमें पढ़नेकी आवश्यकता नहीं कि मुझे फल विषय पढ़ना चाहिये और फल नियम पालन करना चाहिये । इस बारेमें यदि उसके पास कोई उसकी खुदकी पसंदगी होगी भी तो जब वह किसी संस्थामें प्रवेश पानेके लिये जायगा, तब वह समाप्त हो जायगी । संस्थामें उसके भर्त्ता होनेका अर्थ यह है कि वह उस संस्थाके नियमोंका पालन सहर्ष किया करेगा । वह चाहे तो संस्थाको छोड़ भले ही दे, लेकिन जबतक वह उसमें है तबतक यह बात उसके अधिकारके बाहर है कि मुझे क्या पढ़ना चाहिये और कैसे ? यह काम तो शिक्षकोंका है कि वे उन विषयोंको, जो विषय आरम्भसे ही विद्यार्थियोंके दिलोंमें घृणा और अरुचि उत्पन्न करनेवाले शत हों, रुचिकर और सुगम बना दें ।

“यह कहना कि मैं ईश्वरको नहीं मानता, बहुत आसान है; क्योंकि ईश्वरके बारेमें चाहे जो कहा जाय, उसको ईश्वर बिना सजा दिये कहने देता है । वह तो हमारी कृतियोंको देखता है । ईश्वरके बनाये हुए किसी कानूनके खिलाफ काम करनेसे वह काम करनेवाला सजा अवश्य पाता है, लेकिन वह सजा सजा नहीं होती, बल्कि उसे शुद्ध करने और सुधारनेवाली होती है । ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध हो नहीं सकता और न उसके सिद्ध होनेकी जरूरत है । ईश्वर तो है ही । यदि वह दिखलायी नहीं पड़ता तो यह हमारा दुर्भाग्य है । लेकिन विद्यार्थी तर्क करनेमें न पड़ें । जिस संस्थामें वे पढ़ते हैं, अगर उस संस्थामें सामूहिक प्रार्थना करनेका नियम है तो नियम-पालनके विचारसे भी प्रार्थनामें अवश्य सम्मिलित होना चाहिये । विद्यार्थी अपनी शङ्काएँ आदरपूर्वक अपने अध्यापकोंके सामने रख सकता है । जो बात उसे नहीं जँचती, उसपर विश्वास करनेकी आवश्यकता उसे नहीं है । यदि उसके चित्तमें गुरुओंके प्रति आदर-भाव है तो उनके बताये कामको उसकी उपयोगितामें दृढ़ विश्वास रखे बिना भी वह करेगा—भयके मारे या बेदुर्गोपनसे नहीं, बल्कि इस निश्चयके साथ कि उसे करना उसका कर्त्तव्य है और यह आशा रखते हुए कि जो बात आज उसकी समझमें नहीं आती वह किसी-न-किसी दिन अवश्य आ जायगी ।

“सामुदायिक प्रार्थना बड़ी बलवती वस्तु है । जो काम

हम प्रायः अकेले नहीं करते, उसे हम सबके साथ करते हैं । लड़कोंको निश्चयकी आवश्यकता नहीं । अगर वे केवल अनुशासनके पालनार्थ ही सच्चे दिलसे प्रार्थनामें सम्मिलित हों तो उनको प्रफुल्लताका अनुभव होगा । लेकिन अनेक विद्यार्थी ऐसा अनुभव नहीं करते । वे तो प्रार्थनाके समय उल्टे शरारत किया करते हैं । लेकिन तिसपर भी अप्रकट-रूपसे होनेवाला फल रुक नहीं सकता । वे क्या लड़के नहीं हैं जो अपने प्रारम्भकालमें प्रार्थनामें महज ठट्ठा करनेके लिये ही शरीक होते थे, लेकिन जो कि बादको सामूहिक प्रार्थनाकी विशिष्टतामें अटल विश्वास रखनेवाले हो गये ? यह बात सभीके अनुभवमें आयी होगी कि जिनमें दृढ़ विश्वास नहीं होता, वे सामूहिक प्रार्थनाका सहारा लेते हैं । वे सब लोग जो गिरजाघरोंमें, मन्दिरों और मस्जिदोंमें जमा होते हैं, न तो कोरे आलोचक हैं और न पाखण्डी ही । वे बाईमान लोग हैं । उनके लिये तो सामूहिक प्रार्थना नित्य स्नानकी भाँति एक आवश्यक नित्यकर्म है । प्रार्थनाके लिये स्थानमात्र बहम नहीं हैं, जिनको जल्दी-से-जल्दी मिटा देना चाहिये । वे आघात सहते रहनेपर भी अबतक मजबूत हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे ।”

(‘शिक्षा और संस्कृति’, पृष्ठ ५१-५३)

स्त्री-शिक्षाकी समस्या

पुरुषोंकी शिक्षा-पद्धति जैसी दोषपूर्ण है, वैसी ही स्थिति स्त्रियोंकी शिक्षा-पद्धतिकी भी है । भारतमें स्त्री-पुरुषोंका क्या सम्बन्ध है, स्त्रीका आम समाजमें क्या स्थान है, इन बातोंपर विचार ही नहीं किया गया है ।

प्रारम्भिक शिक्षाका बहुत-सा भाग दोनों वर्गोंके लिये समान हो सकता है । इसके सिवा और सब बातोंमें बहुत असमानता है । जैसे प्रकृतिने पुरुष और स्त्रीमें भेद रखा है, वैसे ही शिक्षामें भेदकी आवश्यकता है । संसारमें दोनोंका समान अधिकार है, परंतु उनके कामोंमें बँटवारा पाया जाता है । घरमें राज करनेका अधिकार स्त्रीका है । बाहरकी व्यवस्थाका स्वामी पुरुष है । पुरुष आजीविकाके साधन जुटानेवाला है; स्त्री संग्रह और खर्च करनेवाली है । स्त्री बच्चोंको पालनेवाली है, उनकी विधाता है; उसपर बच्चोंका चरित्र निर्भर है; वह बच्चोंकी शिक्षिका है । इस अर्थमें भी वह संतानकी माता है । पुरुष इस अर्थमें संतानका पिता नहीं है । एक खास उम्रके बाद पिताका असर पुत्रपर कम

हो जाता है। परंतु माँ अपना दर्जा कभी नहीं छोड़ती। बच्चा आदमी बन जानेपर भी माँके सामने बच्चेकी तरह व्यवहार करता है। पिताके साथ वह ऐसा सम्बन्ध नहीं रख सकता।

यदि यह योजना स्वाभाविक और ठीक हो, तो स्त्रीके लिये स्वतन्त्र कमाई करनेकी व्यवस्था नहीं होनी चाहिये। जिस समाजमें स्त्रियोंको तारमास्टर या टाइपिस्ट अथवा कम्पोजीटरका काम करना पड़ता हो, उसकी व्यवस्था बिगाड़ी हुई ही समझनी चाहिये। उस जातिने अपनी शक्तिका दिवाला निकाल दिया है और वह जाति अपनी पूँजीमेंसे खर्च करने लगी है, ऐसी मेरी राय है।

इसलिये जिस तरह स्त्रीको अँधेरेमें और हीन दशांमें रखना बुरा है, उसी तरह उसे पुरुषके काम सौंपना निर्वलताका सूचक है और उसपर जुल्म करनेके बराबर है।

(द्वितीय गुजरात शिक्षा-सम्मेलनमें दिये गये व्याख्यानका अंश—

‘शिक्षण और संस्कृति’, पृष्ठ २७)

उपाधियाँ उपाधि हैं

× × ×
मनुष्यकी सेवा निष्कलङ्क होनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति भयवश अथवा स्वार्थवश सेवा करता है, तो वह सेवा सेवा नहीं है। जहाँ सर्वस्व प्रभुको समर्पण किया जाता है, वहाँ स्वार्थके लिये कोई स्थान नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो इस भावनासे प्रेरित होकर सेवा करता है, प्रतिदिन अपनी शक्तिमें वृद्धि करता रहता है। प्रतिदिन भोजनके लिये किया गया उसका काम भी उसकी सेवाका एक अङ्ग होना चाहिये। जिस व्यक्तिने अपना जीवन सेवाके लिये अर्पण कर दिया है, वह अपने कार्योंमेंसे, जिनमें हँसने या खेलने-जैसे तुच्छ कार्योंको भी स्थान दिया जा सकता है, प्रत्येक कार्यके माध्यमसे सेवा करता है। इसलिये उसके कार्य पवित्र होंगे। अपने ऐसे भक्तोंको ईश्वर सभी आवश्यक शक्तियाँ प्रदान करता है। इसीलिये गीताके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें कहा गया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अर्थात् ‘जो लोग अनन्यभावसे मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरा भजन करते हैं, ऐसे हमेशा मुझमें ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूँ।’

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

अर्थात् ‘मुझमें चित्त लीन करनेवाले, मुझपर प्राण उत्सर्ग करनेवाले, एक-दूसरेको समझाते हुए मेरा ही भजन करते हुए संतोष और आनन्दमें रहते हैं।’

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

अर्थात् ‘इस तरह मुझमें रमे रहनेवालों और मुझे प्रेमसे भजनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे पाते हैं।’

इन श्लोकोंपर तनिक गहराईसे विचार करो। इनमेंसे अन्तिम श्लोक गम्भीर महत्त्वका है। उसे समझनेके लिये असीम श्रद्धा अपेक्षित है। लेकिन जो बात मैं तुम्हारे हृदयमें उतारना चाहता हूँ, वह यह है कि ईश्वरकी सेवा करनेमें तुम्हारी डिग्रियाँ तुम्हारी सहायता नहीं कर सकती। यदि आज कालेजमें प्रवेशकर तुम पर्याप्त अध्ययन कर लेतीं तो तुम्हारी क्या स्थिति होती? यदि मुझे इतनी स्वतन्त्रता होती तो मैं कालेजके सभी छात्र-छात्राओंसे यह कहता कि साम्प्रदायिकताकी इस अग्निमें अपने-आपको झोंक दो और उसे शीतल कर दो। यदि हमारे विद्यार्थी डिग्रियाँ प्राप्त करनेके प्रति अपनी गहनतम आसक्तिका परित्याग कर दें, तो भारत, जो संसारके मानचित्रपर एक बूँद-सा दिखायी पड़ता है, प्रसरित होकर एक सागरका रूप धारण कर लेगा। यह विवेकपूर्ण कहावत कि ‘तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर।’ मात्र साधारण परिवारोंके सम्बन्धमें ही लागू नहीं होती, बल्कि बड़े-बड़े राष्ट्रोंके सम्बन्धमें भी लागू होती है। हमारे रीति-रिवाजों और कार्य-कलापोंको राष्ट्रीय प्रतिभाके अनुरूप होना चाहिये। यदि हम आँख मीचकर अंग्रेजोंका अनुकरण करेंगे तो हम विनाशकी ओर अग्रसर होंगे। कौवेने हंसका अनुकरण करना त्यागकर जब अपनी स्वाभाविक चाल-ढाल अपना ली, तब उसने स्वयंको सुरक्षित कर लिया। तुम यह कहानी जानती हो। क्या नहीं जानती? कहानियाँ केवल मनोरञ्जनार्थ ही नहीं कही जातीं; बहुमुख्य उपदेश देना भी उनका उद्देश्य होता है। इसमें संदेह नहीं कि भारतमें अनेक बुरे रस्मोरिवाज हैं; लेकिन यदि वह अपनी सहज प्रतिभाके अनुरूप कार्यरत हो तो वह अकल्पनीय उच्च

स्थान प्राप्त कर सकता है। इसका कारण यह है कि भारतीय संस्कृतिके जोड़की दूसरी संस्कृति नहीं है। मैं जैसे-जैसे तुम्हें गीताकी व्याख्या समझाता जाऊँगा, वैसे-वैसे उसके नये अर्थ खुलते जायँगे। लेकिन यदि तुम आज इतना ही पचा लो तो पर्याप्त है। इसे तुम लिख डालो। लेकिन केवल लिखनेके लिये मत लिखो। गीतामें जो

उपदेश दिये गये हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये ही गीताका अध्ययन करना चाहिये। आजका सम्पूर्ण उपदेश गीतापर ही आधारित है।

(गांधीजीने अपने भतीजे श्रीजयसुखलालकी पुत्री कुमारी मनु बहिनको डिग्री लेनेकी सलाह न देते हुए जो उपदेश दिया था उसका कुछ अंश—‘शिक्षण और संस्कृति’, पृष्ठ ९४-९५)

पागलकी झोली

[नरककाल]

(लेखक—महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी)

पागल जब किसी भी साधनसे मनको स्थिर नहीं कर पाया, तब हताश होकर सोचने लगा, अब वैराग्यके अतिरिक्त किसी भी उपायसे यह न हो सकेगा। हाय ! वैराग्य तो हुआ नहीं और देहका ममत्व भी गया नहीं। दो भगवान् ! वैराग्य दो ! वैराग्य न होनेके कारण मैं नाम-जप नहीं कर पा रहा हूँ। पूजा-पाठ, जप-ध्यान—किसीमें भी आनन्द नहीं आता। क्या करूँ ? अरे यह क्या ? भगवान्का नाम जपने चला, तो यह नरककाल कहाँसे आ टपका ! न चर्म है, न मांस है, मात्र कंकाल है; चक्षु-गह्वर, उदर-गह्वर, विस्फारित मुख, शुभ्र दन्त—कितनी भीषण मूर्ति !! कौन हो तुम ? भाग जाओ। मैं श्रीगुरुदेवका ध्यान करूँगा।

नरककाल हो-हो करके अट्टहास कर उठा !

आसं सुकोमलसुवर्णरुचा त्वचाहं

प्रागावृत्तो व्यवसितं न किमेतदर्थम् ।

दृष्ट्वाधुना परिणतिं मम घोररूपां

भ्रातर्विचिन्तय सनातनवस्तुतत्त्वम् ॥

था मैं ढका कनक कान्ति मृदु त्वचासे,

उद्योग कौन, न किये इसके लिये थे।

मेरी दशा निरख कर यह घोररूपा

सोचो सनातन निरञ्जन तत्त्व बन्धो ! ॥

‘मैं ! मैं कौन हूँ, जानते हो ? मैं तुम्हारे ही समान एक मनुष्य था; शास्त्रपाठ करता था, अर्थोपार्जन और वर्ग-परिवारका पालन-पोषण करता था। इस देहका त्याग करना होगा—यह बात एक बार भी मेरे मनमें नहीं आती थी। इसी प्रकार सोचते-सोचते सुख-दुःखमें कितने दिन बीत गये। एक दिन खूब ज्वर हो गया, छातीमें सदाँ बैठ गयी, बिस्तरपर पड़ गया। क्रमशः उठनेकी

शक्तिने भी जवाब दे दिया। मेरे प्रिय आत्मीय-स्वजनोंने पुलिटिस-मालिश और सेवा करते-करते परेशान कर डाला। क्रमशः हाथ-पैर भी अपने वशमें नहीं रह गये। लोगोंको पहचाननेकी क्षमता भी नहीं रह गयी। मुझे हिला-हिलाकर—‘अरे मैं कौन हूँ ? बताओ तो। मुझे पहचान पा रहे हो ?’ इस प्रकार कितने लोग कितने प्रश्न करने लगे। वाक्शक्ति, दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति सभी चली गयीं, देह जड़वत् होने लगा। नाभिसे श्वास आरम्भ हो गया। क्रमशः श्वास कण्ठमें आया। जल्दी-जल्दी आत्मीय-स्वजनोंने तकिये-बिछौने हटा दिये। सहसा दोनों आँखें बड़ी-बड़ी हो गयीं। मैंने देखा—मैं अब देहके भीतर नहीं रह गया। खूब जोरसे रोना-पीटना शुरू हो गया। स्त्री-पुत्र, माँ-बहन, कन्या आदि खूब चीत्कार करके रोने लगे। मैं मानो कैसा ही हो गया। उसके बाद पास-पड़ोसवालोंने आकर मुझे अर्धदग्ध करके गङ्गामें डाल दिया। मछलियाँ और कछुओंने मांस वगैरह खा डाला। अवशिष्ट कंकालमय शरीर लेकर मैं तुम्हारे साथ वार्तालाप करने आया हूँ। सिहर न उठो, बन्धु ! एक दिन मेरी तरह तुम्हारी भी यही दशा होगी। क्यों बन्धु ! कुछ कहो न, तुम तो बिल्कुल स्थिर हो गये। तुम्हारा लय-विक्षेप कहाँ चला गया ? तुम्हारी चञ्चलता कहाँ गायब हो गयी ?

पागल निश्चलभावसे उस नरककालको देखकर बोला—‘अच्छा ! तुम कैसे बोल पाते हो ? तुम्हारा सूक्ष्म शरीर तुम्हारे कंकालमें फिर कैसे आ गया ?’

कंकाल बोला—देखो बन्धु ! जिनकी इच्छासे सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है, उनकी इच्छा होनेपर क्या एक कंकाल बोल नहीं सकता ? तुम कैसे बोल पाते हो ? मैं भी उसी तरह बोल रहा हूँ। तुम जिनसे वैराग्य माँग रहे थे, उन्होंने ही मुझे तुम्हारे पास भेजा है।

पागल बोला—अरे नरककाल ! तुम कितने भीषण हो ?
कंकाल बोला—तुम भी इसी प्रकार भीषण हो जाओगे ।
बन्धु ! मेरी तरह तुम्हारे दाँत भी बाहर निकल आयेंगे । इसी
तरह मांसहीन तुम्हारा भी उदर हो जायगा । तुम्हारी बाँहोंका
सिरहाना न मिलनेपर तुम्हारी जिस प्रियतमाको नींद नहीं
आती, तुम्हारी मृत्यु होनेके साथ-साथ तुम्हारी देहको देखकर
वह काँप उठेगी और पता नहीं कितने दिनोंतक उसका शरीर
कम्पित होता रहेगा, समझे बन्धु ?

पागल बोला—क्या मैं भी मरूँगा ?

कंकाल बोला—मरोगे नहीं तो क्या ? ऐसी तो कोई
पक्की लिखा-पढ़ी करके आये ही नहीं हो कि मरोगे नहीं ।
अबसे मृत्युको सम्मुख रखकर साधना करो, देहात्मबोध
नष्ट करनेकी चेष्टा करो, तब मृत्युपर विजय प्राप्त कर सकोगे ।
इस सम्बन्धमें मैं तुम्हारी सहायता करूँगा । इसीलिये आया
हूँ । मेरे कई-एक बन्धुओंके साथ तुम्हारा आलाप-परिचय
करा दे रहा हूँ ।

देखते-ही-देखते १५-२० वैसे ही नरककाल और
नरमुण्ड लुढ़कते-लुढ़कते आकर उपस्थित हो गये । नरककाल
कहने लगा—‘इनको देखते हो, ये एक खूब धनी मनुष्य थे ।
धनके अहंकारसे सारी पृथ्वीको तुच्छ समझते थे । अन्धे-
आतुरको इन्होंने कभी एक पैसा दिया नहीं । व्याजका व्याज,
फिर उसका भी व्याज—इसी हिसाबमें ये लगे रहते थे ।
देवता, ब्राह्मण, अतिथि, साधुजन—इनके नामसे ही इनको
क्रोध आ जाता था ।’

‘क्यों बन्धु ! मेरी बात झूठी तो नहीं ?’ वह कंकाल
गर्दन झुकाकर इस बातकी सत्यताका प्रतिपादन करते हुए
बोला—‘हाय ! मैं क्यों ऐसा दुराचारी हो गया था ? क्यों
मैंने आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न नहीं किया ? मेरी छाती फटी
जा रही है ।’

नरककाल फिर कहने लगा—‘ये मेरे कवि बन्धु हैं ।
कितनी सुन्दर-सुन्दर कविताएँ ये लिखते थे, कितनी
समालोचनाएँ, कितनी चिल्लपों, कितना प्रदर्शन—इनके
विषयमें और क्या कहा जाय ? किंतु कभी भी अपने मार्गकी
खोज नहीं की इन्होंने । जो भी हो, कंकाल होनेपर भी अब
भी इनका कवित्व जाता नहीं । हाथमें एक युवतीका मस्तक
लेकर उसे लक्ष्यकर शिह्न मिश्रकी इस कविताकी ये आवृत्ति
करते रहते हैं—

कवैतद्वक्त्रारविन्दं क तदधरमधु कायतास्ते कटाक्षाः ।

कालापाः कोमलास्ते कच मदनधनुर्भङ्गुरो भ्रूविलासः ॥

‘कहाँ गया तुम्हारा कमलके समान मुख ? कहाँ है वह
अधरमधु ? वे विशाल कटाक्ष ? वे तुम्हारे कोमल आलाप कहाँ ?
कामदेवके धनुषके समान टेढ़ी भौंहें । वह सब कहाँ गया ?’

उसने भी कहा—‘अरे ! मेरी छाती बैठी जा रही है ।
मैंने क्यों भगवान्का आश्रय नहीं लिया ? क्यों आत्मज्ञानके
लिये चेष्टा नहीं की ?’

नरककालने फिर बोलना प्रारम्भ किया—ये एक बहुत
बड़े पण्डित थे, विपक्षीपर विजय प्राप्त करना, यश-कीर्ति
और धन कमाना ही इनके जीवनका लक्ष्य था । मरना
होगा—यह बात मनमें कभी नहीं उठती थी । ये बातें बड़े
विवेककी करते, पर अपनी शान्तिके मार्गका इन्होंने अनुसंधान
नहीं किया । दूसरेको उपदेश देनेमें ये बड़े निपुण थे ।

पण्डित-कंकाल हाहाकार कर उठा—‘अरे ! मैंने मुक्तिके
लिये प्रयत्न क्यों नहीं किया ? चला, मैं चला—’

पागलने कहा—अरे, कितनी भीषण विभीषिका ! मुझे तुम
यह सब क्यों दिखला रहे हो ? कितना भयंकर दृश्य !! चारों
ओर नरककाल, सभी नरमुण्डसे खेल रहे हैं । तुम कौन हो ?

नरककाल कहने लगा—‘मैं तुम्हारा बन्धु हूँ रे ! तुम
जो वैराग्य-वैराग्य करते थे न, इसीसे प्रभुने तुमको वैराग्यका
उपदेश देनेके लिये मुझे आदेश दिया है । भयभीत न होना
बन्धु ! गुरुमन्त्र तो है ही, भयकी क्या बात है ! जप करो
न ! इधर देखो मेरे इस बन्धुको । ये नयी फैशनके आधुनिक
युवक हैं । सुन्दर शरीर, माथेपर टेढ़ी माँग; इनके देहपर
कितनी बहार थी ? ये परनारीके रूप-पिपासु थे, नेत्रोंसे
कितनी भङ्गिमा करते थे; कभी सीटी बजाना, कभी गाना,
कभी गर्दन मटकाना, कितनी रंग-बिरंगी जुलूँ । हाय बन्धु !
वह सब कहाँ चला गया ?’

ऐसा कहकर कंकालके मस्तकपर उसने हाथ रक्खा
और ये वे ही आँखें हैं रे, कहते हुए नेत्र-गह्वरपर हाथ रक्खा ।

काकुलप्रिय वह कंकाल हाहाकार कर उठा । हाय !
काकुल और नारीके सिवा जगत्में और भी कुछ है, यह
बात मेरे आत्मीयजनोंने मुझे क्यों नहीं बतलायी ?

कंकालबन्धु बोला—उन्होंने तो बतलायी थी, किंतु
तुम्हें सुननेकी फुरसत कहाँ थी ? बाबा ! टेढ़ी माँग निकालो,

साबुन रगड़ो, या जो भी करो, किंतु इस देहका परिणाम तो सियार-कुत्तोंकी टट्टी ही होना है ।’

जाने दो। देखो बन्धु ! यह जो कंकाल देख रहे हो, वह एक युवतीका है । यह अपने रूपके गर्वमें जगत्को तृणवत् समझती थी । रूप-यौवनको पक्के पट्टेकी चीज समझकर उसे चिरस्थायी सम्पत्ति मानती थी और ऐसे विचित्र स्वभावकी बन गयी थी कि पतिसेवा-पतिभक्तिके नामसे ही यह आगबबूला हो उठती थी । असम्य पति मनको नहीं भाया तो पतिका परिवर्तन भी कर डाला । उसके बाद एक दिन आधी रातके समय साँपने काट लिया, तब सब कामोंसे छुट्टी पाकर यह श्मशानमें चली आयी । अब तो इसकी हड्डी चमचमा रही है ।

वह कंकाल बोल उठा—अरे, मैंने क्यों पतिकी सेवा नहीं की ? हाय ! जीवित नारायणको पाकर भी अवहेलनासे गँवा बैठी—अब छाती फटी जा रही है, छाती फटी जा रही है ।

फिर कंकालबन्धु बोलने लगा—‘ये एक ब्राह्मण व्यवसायी हैं । जप, ध्यान, पूजा-पाठका परित्याग करके इन्होंने खूब कारोबार फैलाया । दस हजार रुपये हो जानेपर फिर व्यवसाय नहीं करूँगा, ऐसा कहा करते थे । इस प्रकार क्रमशः ये पचास हजार रुपयोंके मालिक हो गये, किंतु नशा तब भी छूटा नहीं । एक दिन कालसंध्याके समय यमदूतोंने जाकर गला दबाकर इनका काम तमाम कर दिया । ये बन्धु हमारे श्मशानमें आकर रुपयोंकी झंकार सुना करते हैं ।’

धनी कंकाल बोल उठा—‘हाय ! ब्राह्मणशरीर पाकर भी मैंने विद्याकी उपासना नहीं की । कैसा अन्याय कर डाला ? हाय ! वह विशाल धनराशि तो मेरी किसी व्यथाको दूर न कर सकी । इस बार यदि मनुष्य-शरीर मिलेगा तो दिन-रात तुम्हारा नाम लूँगा, भगवान् ।’

कंकालबन्धुने फिर बोलना प्रारम्भ किया—‘ये एक बड़े चिकित्सक थे । दूसरोंकी चिकित्सा करते थे, किंतु अपने भीषण भवरोगकी चिकित्साकी कोई व्यवस्था इन्होंने नहीं की । एक दिन ठीक दोपहरके समय हार्टफेल होनेपर आकर हमारे साथ बन्धुत्व स्थापित कर लिया ।’

चिकित्सक चीत्कार कर उठे—‘अरे छाती फटी जा रही है, हाय ! भगवान्को न पुकारकर मैंने कैसा अन्याय कर डाला ? हे दयालो ! दया करो ।’

फिर कंकालबन्धु दूसरेको दिखलाकर कहने लगा—‘यह एक विश्वासघातक है । इसके पास एक आदमीने कुछ रुपये विश्वास करके धरोहर रखे थे, इसने वे सब रुपये हजम कर लिये । क्यों बन्धु ! वह बात याद आती है ?’

वह कंकाल रोता हुआ बोल उठा—‘हाय ! धरोहरका धन मैंने क्यों नहीं लौटा दिया ? क्यों भगवान्का नाम नहीं लिया ?’

कंकालबन्धु दूसरे एक कंकालको लक्ष्य करके कहने लगा—‘ये एक संन्यासी थे । संसार तथा साधन-भजन—सबका परित्याग करके केवल ‘लोकसेवा’ ‘लोकसेवा’ चिल्लाते फिरते थे और जलचरोंमें नौका, स्थलचरोंमें धान कूटनेकी ढँकी, आकाशचारियोंमें पतंग, कठोर वस्तुओंमें सिलवट्टा और चक्की तथा नरम चीजोंमें विष्टा—बस, इनको छोड़कर सभी चीजोंको ये ब्रह्मज्ञानकी तुहाई देते हुए भक्षण करते थे । शास्त्रको तिलज्जलि देकर अपना नवीन शास्त्र निर्माण कर ये जालीदार मसहरी टाँगने लगे । स्प्रिंगदार पलंगके ऊपर सोये-सोये ‘तत्त्वमसि’ ‘सोऽहम्’ ‘सोऽहम्’ करते थे । जीवन्मुक्त न होनेतक संन्यासी लोकैषणाका भी त्याग करे—इस बातका बिल्कुल ही ख्याल नहीं रहा । एक दिन भयसंध्या आ गयी और इनकी पुकार आ ही गयी । स्प्रिंगदार पलंग, जालीदार मसहरीके साथ-साथ केवल एक ही झटकेमें आप श्मशानमें आ पधारे । क्यों साधुजी ! वह बात याद पड़ती है ?’

वह कंकाल बोल उठा—‘अरे, जिसने अपनी मुक्तिका उपाय नहीं किया, वह बड़ा भारी मूर्ख है । भगवान् ! इस बार शरीर पानेपर मैं निर्जनमें जाकर तुम्हारी साधना करूँगा ।’

कंकालबन्धु बोला—‘क्यों बन्धु ! मालूम होता है । धीरे-धीरे तुम ऊब रहे हो । जाने दो, अपनी बात संक्षेपमें कह देता हूँ । ये सब जो कंकाल देखते हो—कोई वकील, कोई मुख्तार, कोई जज, कोई बड़े अधिकारी, कोई मजिस्ट्रेट, कोई पुण्यवान् और कोई पापी हैं; कितना परिचय दूँ—सभीकी यही गति है ।’

अच्छा, देखो बन्धु ! यह एक अस्थिका छोटा-सा टुकड़ा तुलसीपत्र चढ़ाकर मैंने यत्नपूर्वक रख छोड़ा है, इसपर क्या लिखा हुआ है ? देखो ।

पागलने विस्मयपूर्वक ध्यान देकर देखा—किसी एक नरककालके टुकड़ेके चारों ओर ‘रामनाम’ लिखा हुआ है । कंकालबन्धुसे पूछा—‘यह क्या है ?’

कंकालबन्धुने कहा—इन महापुरुषने जीवनमें इतना राम-

नामका जप किया कि वह इनकी अस्थियोंपर भी अङ्कित होगया। उन पवित्र अस्थियोंको कैलासपति शंकर अपने वक्षःस्थलपर धारण किये रहते हैं। मैंने भी एक टुकड़ा अपने मस्तकपर धारण कर रक्खा है।

इस प्रकारसे नाम-साधना करनी चाहिये बन्धु ! रग-रगपर, अस्थिमज्जापर नाम यदि अङ्कित न हुआ, तो फिर क्या नामजप किया ?

अच्छा बन्धु ! तुम ध्यान करो, हमलोग तुमको चारों ओरसे घेरकर नृत्य करते हैं। देखो बन्धु ! यह गङ्गातीरपर महाश्मशान है। यह धू-धू करके चिता जल रही है। देखो, अच्छी तरह देखो, ध्यान करो।

यह कहकर कंकालसमूह पागलको घेरकर नृत्य करने लगा। पागलका भय-विक्षेप दूर हो गया। पागल देखने लगा। मस्तकमें श्वेतवर्ण, सहस्रदल महापद्म, उसके भीतर फिर द्वादशदल पद्म। उस द्वादशदलमें ह य क्ष म ल व र जूं ह स ख क्रु—ये बारह बीज हैं, उसके भीतर अ-आदि, क-आदि, ख-आदि वर्णसमूहके द्वारा निर्मित त्रिकोण, उस त्रिकोणके कोणमें ह ल क्ष—ये तीन बीज और मध्यभागमें प्रणव है। नाद-विन्दुमय पद्मपीठपर हंसः युगल और उसी स्थानपर पादुकाद्वय है। द्वादशदल पद्मके बीजकोषके ऊपर श्रीगुरुदेव विराजमान हैं। वे द्विभुज, त्रिलोचन और शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए हैं। शुक्लपुष्पग्रथित माला उनके कण्ठदेशमें शोभा पा रही है। श्वेत चन्दनसे उनका सर्वाङ्ग चर्चित है, उनके वामाङ्गमें रक्तवर्णा शक्ति समासीन हैं।

पागल धीरे-धीरे उस रूपसागरमें डूब गया। सहसा पागलका वह प्रकाश भङ्ग हो गया। वह 'कहाँ-कहाँ'की रट लगाता हुआ चीत्कार कर उठा।

नरककाल बोला—क्यों बन्धु ! फिर खो बैठे ? अच्छा, एक काम करो। यह जो श्मशानमें धू-धू करती हुई आग जल रही है, मन-ही-मन उस आगमें तुम्हारी जो कुछ भी आसक्ति है, सबकी आहुति दे दो। तुम्हारे प्यारकी जो भी वस्तु हो, अर्थात् माता, बहन, स्त्री, पुत्र, कन्या इत्यादि, जिनको तुम प्यार करते हो, उनको—उस सारे प्यारको तुम इस अग्निमें समर्पण कर दो, हो गया ? अच्छा, इस बार तुम्हारे अति प्रिय जो ढेर-के-ढेर ग्रन्थ हैं, सबकी अग्निमें आहुति दे दो। दे दी न ? इस बार इस अग्निमें तुम स्वयं कूद पड़ो।

शून्य, शून्य; केवल शून्य; नीचे गङ्गा, ऊपर शून्य। यह जो सूर्य है—यही तो है मार्ग। इस सूर्यका भेदन करके मुझे उठना होगा। हे सूर्य ! मुझे मार्ग दो ! मैं तुम्हारे भीतर प्रवेश करूँगा। हे सूर्यमण्डलमध्यवर्ती पुरुष ! तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं है, तब तुमने मुझे क्यों दूर कर रक्खा है ? मुझे अपनी गोदमें उठा लो, मुझे अपनेमें मिला लो।

यह क्या ? एक उज्ज्वल बिन्दु ? इस बिन्दुका भेदन करना होगा, तभी वह महासिन्धु प्राप्त होगा। इस आकाशसे दसगुना बड़ा अहंत्त्व, अहंकारसे दसगुना बड़ा महत्त्व, महत्त्वसे दसगुनी बड़ी प्रकृति। उसके परे वह विराट्, वह महान्, जिसके एक पदमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड खेल रहे हैं।

पागल फिर डूब गया। फिर प्रकाश भङ्ग हो गया। इस बार पागल शान्त हो गया, कोई चञ्चलता शेष नहीं रह गयी। वह देख रहा था—सहस्रार द्वादशदल कमल, उसके भीतर त्रिकोण, नाद-विन्दुमय पीठ हंसः युगल, श्रीगुरुपादुका और श्रीश्रीगुरुमूर्ति।

स्थूल ध्यान, तेजोध्यान, सूक्ष्म ध्यान—सभी उसके नेत्रोंमें आ गये। पागलके नेत्रोंसे जलधारा प्रवाहित हो उठी। दोनों हाथ जोड़कर ऊर्ध्वदृष्टि करके पागल बोलने लगा—भगवन् ! गुरुदेव ! दयामय ! इस प्रकार मुझे साथ लेकर चलते हो, तुम्हारी कितनी कृपा है, कितने रूपोंमें कितने प्रकारसे मेरा मार्ग दिखाते हो ? मेरे लिये तुम कितने साजोंमें सजकर आते हो ? तुमने कंकालका वेश सजकर शरीरसे वैराग्य करा दिया। सहस्रारमें तुम गुरु, हृदयमें तुम इष्टदेव, तुम ज्योति, तुम नाद, तुम बिन्दु और फिर तुम्हीं हो महासिन्धु ! एकमें बहु, बहुमें एक, कैसा अपरूप है तुम्हारा रूप। तुम्हें प्रणाम—कोटि-कोटि बार तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। हे नाथ ! प्रसन्न होओ, मुझे अपना बना लो।

‘अरे प्यारे’, जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है, मैं उसका सब कुछ कर देता हूँ—

‘तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्’

समझे ? नाम लो !

‘वही—वही करूँगा, नाम ही लूँगा।’

सीताराम
गौरीशंकर

जय राजाराम।
सीताराम।

सचा साम्राज्य

[सम्राट् कैसा हो]

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

पाणिनि-व्याकरणानुसार सम्यक् राजति (पूर्ण रूपसे दीप्त—भासित होता है) इस अर्थमें 'सस्सूद्विषद्वुहयुजविद-भिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्तिप् (३।२।६१) से 'संराट्' सिद्ध होता है। पर अनुस्वारके अपवाद सूत्र 'भो राजिसमः कौ' (८।३।२५) (अर्थात् सम् उपसर्गके बाद राज होनेपर 'म' का अनुस्वार नहीं होकर नित्य 'म' ही रहेगा) से सदा 'सम्राट्' ही लिखा जायगा और 'संराट्' अशुद्ध माना जायगा। अमरसिंहने इस 'सम्राट्' शब्दकी व्याख्यामें लिखा है—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।

शास्ति यश्चाज्ञया राजः स सम्राडथ (राजकम्) ॥

(अमरकोश २।८।३)

इसके प्रायः सभी टीकाकारोंने राजसूयकर्त्ता, सार्वभौम, सर्वमण्डलेश्वर, चक्रवर्ती राजाकी सम्राट् संज्ञा मानी है। कालिदासने रघुवंशमें इसी अर्थमें सम्राट् तथा साम्राज्य शब्दका प्रयोग किया है—

छायामण्डलक्षयेण तमदृश्या किल स्वयम्।

पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥

(४।५)

अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः

सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥

(२।५)

वेदोंमें 'सम्राट्' तथा 'साम्राज्य' का साथ ही इनके पर्यायवाची शब्दोंका असंख्य बार प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण (बहवृच ब्राह्मण) का तो यही वर्ण्य विषय ही दीखता है। साथ ही इसमें भली प्रकारसे इसके आन्तरिक तात्पर्यपर भी विचार किया गया है। इसको (आठवीं पञ्जिका) के द्वितीय अध्यायमें अभिषेक-सामग्री तथा उसके यथाविधि यथास्थान स्थापनका सम्पूर्ण विधान है। तीसरे अध्यायमें 'ऐन्द्राभिषेक' का इतिहास तथा सम्पूर्ण विधान भी वर्णित है और इसके अन्तिम चौदहवें मन्त्रमें बतलाया गया है कि इसी महाभिषेकविधिसे अभिषिक्त होकर देवराज इन्द्रने

सभी अजेय विश्वविजयी दैत्य-दानवोंको जीत लिया, सभी लोकोंको प्राप्त कर लिया, सभी देवताओंमें श्रेष्ठता तथा परम प्रतिष्ठाको प्राप्त किया और साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्यराज्य, माहाराज्य, आधिपत्यपदको प्राप्त कर इस लोकमें स्वयम्भू, स्वराट् और अमर हुए तथा स्वर्गलोकमें भी सभी कामनाएँ प्राप्त कीं।*

इसी (आठवीं पञ्जिका) के चौथे अध्यायमें यह निर्दिष्ट है कि तुट-कावपेयने परीक्षित-जनमेजयका, भार्गव-च्यवनने मानव-शर्यातिका, सोमशुष्मा-वाजरत्नायनने सात्राजित-शतानीकका, नारद-पर्वतने आम्बष्ठ्य एवं औग्रसेन्य-युधां-श्रौष्ठिका, कश्यपने भौवन विश्वकर्माका, वसिष्ठने सुदास-पैज-वनका, संवर्त-आङ्गिरसने मरुत्-आविक्षितका,† दमय-आत्रेयने अङ्गका तथा दीर्घतमाने भरत-दौष्यन्तिका अभिषेक किया और सभी राजाओंने भी साम्राज्य, वैराज्य, भौज्य, स्वाराज्य, माहाराज्य, सार्वराज्य एवं समन्त सार्वभौमपदको प्राप्त किया। मरुत्, अङ्ग, भरतादिकी महिमागान-प्रशंसामें इसमें कई-कई श्रेष्ठ आकर्षक बड़े रम्यश्लोक भी कहे गये हैं। पर इसमें सर्वत्र एक बात ध्यान देनेकी है। यहाँ आत्मवत्ता, स्ववशता या जितेन्द्रियता अथवा विनीतताको ही मुख्य साम्राज्य कहा गया है—'साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय

* अग्निपुराण अ० २।१९ तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण २।२२।४-१८५ में भी विस्तृत राज्याभिषेक-विधि है। गोण्डलसे एक छोटी पुस्तिका भी छपी है। पर उसमें अभिषेकपद्धति नामकी केवल साधारण कुछ श्लोक मात्र ही हैं।

† अर्थात् अविक्षितके पुत्रका। इसी प्रकार पहलेके भी सभी नाम पितासहित समझने चाहिये।

‡ यह बात अन्य सभी भारतीय राजनीति-ग्रन्थोंमें भी बार-बार सुस्पष्ट की गयी है। बार्हस्पत्य्यशास्त्रके पहले ही सूत्रमें राजाको आत्मवान् होना आवश्यक बतलाया गया है—'आत्मवान् राजा' (बार्ह० १।१), महाभारत, शान्तिपर्व ५७।१३-१४ में भीष्मने भी यही बात कही है—

पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायधिपत्याय स्वावश्यायतिष्ठा-
यसुकुतुरिति ।' (ऐत० ब्रा० ८ । ३ । १३ तथा १८ भी)

यहाँ ये पद प्रायः सभी मन्त्रोंमें ही बार-बार आते हैं । इस ऐन्द्राभिषेकके 'इन्द्रियं वा एतदस्मिंल्लोके यद्धीयं दध्नाभिषिञ्चति इन्द्रियमेवास्मिन् तदधाति' (८ । ४ । २०) तथा ८ । ५ । ४ के 'इन्द्रियं दधामि' इन मन्त्रोंसे, एवं 'त्रिवीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ।' इस महाभारत, शान्तिपर्व २१४ । २३ के 'इन्द्रिय' शब्दके व्याख्यानसे तथा 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पाणिनि० ५ । २ । ९३)' इस पाणिनिकी व्युत्पत्तिसे तथा—'अर्चन्तो अकं जनयन्त इन्द्रियम् ।' (ऋग्वेद १ । ८५ । २) के—'इन्द्रियं—इन्द्रस्य लिङ्गं वीर्यं जनयन्तः'—इस सायण-भाष्यसे भी इन्द्र तथा इन्द्रिय शब्दका घनिष्ठ सम्बन्ध दीखता है ।

अतः ऐन्द्राभिषेकके इस प्रकरणसे 'इन्द्रियजय' सम्बन्धी ध्वनि स्पष्ट ही प्रतिध्वनित होती दीखती है । निरुक्त निघण्टु २ । ५ । १४ की व्याख्यामें देवराज यज्वाने इसी ऐतरेय ब्राह्मणके ८ । ५ । ४ मन्त्रके 'अस्मिन् राष्ट्रे इन्द्रियं दधामि' के उदाहरणसे 'इन्द्र' को आत्मा मानकर सृष्ट-जुष्टादि भावोंमें 'इन्द्रिय' शब्दकी सार्थकता दिखलायी है । यों आध्यात्मिक

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।

धर्मे चायै च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥

त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।

बाल्मीकि-रामायणमें भगवान् रामको बार-बार 'आत्मवान्' कहा गया है । और 'आत्मवान्' का अर्थ गोविन्दराज, कर्तक, तीर्थ, रामानुज, मखी एवं नागेशादि सभीने 'जितेन्द्रिय' ही लिखा है । बाल्मीकिजीका प्रश्न ही होता है—'आत्मवान् को जितक्रोधो बुतिमान् कोऽनसृजकः' (१ । १ । ४) इत्यादिसे और नारदजी प्रथम ही कहते हैं रामके विषयमें—

'नियतात्मा महावीर्यो बुतिमान् धृतिमान् वशी ।' (१ । १ । ८) पुनः—'आरुरोहात्मवांस्ततः ।' (१ । २ । ५२ । ७६) श्रीहनुमान्जी तथा लक्ष्मणजी भगवान् रामको अपनेसे भी अधिक जितेन्द्रिय कहते हैं । (द्रष्टव्य अयोध्या एवं सुन्दरकाण्ड ३४) यह आत्मवान्, स्ववश, जितेन्द्रिय या विनीत होना सर्वथा एक वस्तु है । विशेष जानकारीके लिये देखिये श्रीरामवचनमृत अङ्कमें रामोक्त राजनीति-प्रकरणमें 'विनयो हीन्द्रियजयः' श्लोकके 'विनय' शब्दपरकी टिप्पणी ।

तथा धार्मिक ग्रन्थोंमें तो सर्वत्र सर्वथा जितेन्द्रियको ही सम्राट् स्वराट् माना गया है । राजनीतिग्रन्थोंका भी एकमात्र यही सारसर्वस्व दीखता है । भारतके सर्वोपरि राजनीतिज्ञ विद्वान् आचार्य कौटिल्यका स्पष्ट उद्घोष है कि 'राजनीति-शास्त्र' का वास्तविक नाम ही 'इन्द्रियविजयशास्त्र' है । यदि राजा जितेन्द्रिय नहीं, इन्द्रियोंका ही गुलाम है, तो चाहे वह सम्पूर्ण भूमण्डलका ही अधिपति क्यों न हो, तत्काल ही सर्वनाशको प्राप्त हो जाता है—

कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः । तद्विरुद्धवृत्तिरवशेन्द्रिय-
श्रातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति ।

(कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकारण १, अध्या० ६, सूत्र ४-५)

कृत्स्नं हीति—यस्मात्तु न शास्त्रावयवोऽस्ति व्यापारशून्यः,
न च व्यापारः कश्चिदेकादशेन्द्रियनिरपेक्षः । तस्मात्
सम्पूर्णमेवमिदं शास्त्रमिन्द्रियजयो नाम ।

(अर्थशास्त्रकी जयमङ्गला व्याख्या)

शुकाचार्य तथा कामन्दक अपने-अपने 'नीतिसार' ग्रन्थके आरम्भमें ही लिखते हैं कि 'जो अपने एक मनको ही वशमें नहीं कर सकता, वह भला शत्रुओंसहित ससागरा वसुन्धराको वशमें कैसे रख पायेगा ?'—

एकस्यापि न यः शक्तो मनसः संनिबर्हणे ।

महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति ॥

(कामन्दक. १ । ३७, शुक्नीति १ । ९९)

स्वायम्भुव मनु तथा भगवान् श्रीराम भी अग्निपुराणोक्त राजनीतिमें कहते हैं कि 'जितेन्द्रिय व्यक्ति ही सभी प्रकार तथा लोकसंग्रहरीत्या भी प्रजाको वशमें रख सकता है—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्विद्वानिदम् ।

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥

(मनुस्मृति ७ । ४४; मत्स्यपुराण २१५ । ५५; श्रीविष्णुधर्मोत्तर २ । ६५ । ४७; अग्निपुराण २३८ । ९ इत्यादि)

सोमदेव सूरि भी अपने 'नीति-वाक्यामृत' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें 'अर्थशास्त्र'को 'इन्द्रियजय' शास्त्र मानते हैं—

'इष्टेऽर्थेऽनासक्तिः, विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः,

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ।' (३ । ८)

विदुर भी कहते हैं कि एक ओर जो ऐश्वर्योंका स्वामी है और दूसरी ओर इन्द्रियोंका गुलाम है (जिसे ही आज सर्वत्र पढ़ाया, फैलाया जा रहा है—द्रष्टव्य 'टुथ' पत्रिका

वर्ष ३६ । ३४-४६ अंक), वह शीघ्र ही ऐश्वर्यसे भी भ्रष्ट हो जाता है—

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।

इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥

(महाभारत, उद्योग ३४।६३)

मन्वादि भी यही कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान् सर्वान् ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

(मनु० २।९३; नारदपरि. उप. ३।३६; मार्कण्डेय-पुराण ४३।८१; महा० वनपर्व २११।२१; श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।२३३।७९)

सम्पूर्ण राज्य-कामार्थ प्राप्तिकी अपेक्षा उसका त्याग ही विशेष महत्त्वपूर्ण है—

प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।

(मनुस्मृति २।९५; महा० शान्ति० १७७।१६ इत्यादि)

तनिक भी इन्द्रियोंकी स्वतन्त्रता भयानक आपत्तियों तथा नरकका कारण होती है ।

इसके उदाहरणमें कौटिल्यने दाण्डक्य* तथा कराल वैदेह† रावण‡ जनमेजय, अजबिन्दु आदिका उल्लेख किया है । ऐसी बहुतेरी कथाएँ स्कन्दपुराणके कुमारिकाखण्डमें भी हैं । जितेन्द्रियताके ही कारण श्रीराम, परशुरामादिका शासन चिरकालतक अशुण्ण रहा ।

सम्राट्के शरीरमें भगवान् विष्णुका विशेष रूपसे प्रवेश

गोस्वामी तुलसीदासजीने सात्त्विक 'सम्राट्'को विशिष्ट ईश्वरांश माना है—

* इसकी कथा वाल्मीकि-रामायणके उत्तरकाण्डमें विस्तारसे है । शुकाचार्यके शापसे इसका भरापूरा राज्य धूलि-वर्षासे नष्ट होकर दण्डकवन बन गया । गोस्वामीजीने भी लिखा है—'दण्डक वन पुनीत प्रभु करहू । उग्र साप मुनिवर कर हरहू ॥' वामनपुराण अ० ६३-६५ में भी यह कथा बहुत विस्तारसे आयी है ।

† ब्राह्मणी संस्पृशन्नेव सगणो मिथिलेश्वरः । त्यक्तः सृष्टयैवोव्यां विवेशाशु रसातलम् ॥ (जयमङ्गल १।६।७)

‡ मन्दोदरीने भी कहा है—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ॥

सरस्वतिरिव तद् वैरमिन्द्रियैरेव निजितः ।

(वाल्मीकि-रामा० ६।१११।१५-१६)

साधु सुजान सुसील नृपाला । ईस अंस भव परम कृपाला ॥
(मानस १।२७।४)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—'नराणां च नराधिपम् ।' (१०।२७)

भागवत ३।२१।५० में महर्षि कर्दम, सम्राट् स्वायम्भुव मनुको 'भगवान् श्रीहरिकी साक्षात् पालिनी शक्ति' ही बतलाकर स्वागत करते हैं—'हरेः शक्तिर्हि पालिनी ।' श्रीमद्देवीभागवत, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर तथा महाभारत शान्तिपर्वादिमें भी सात्त्विक सम्राट्को विराट् विष्णुका ही रूप माना है—

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः ।' (देवीभागवत ६।१०।२३-२७)

राजा भोजो विराट् सम्राड् गोपतिः पार्थिवस्तथा ।

स एवोक्तो महीनाथः शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर २।१०९।५१, महा० शान्ति० ६८।५४)

विश्वधिकः केशवरूपभूषः । (पद्म० भूमि० ४२।२२)

साक्षात् भगवान् राम, परशुराम, पृथु तथा मनुओंको विष्णुका अवतार एवं अंशादि ही माना गया है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।

कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥

(भागवत १।३।२७)

अन्यत्र भी सर्वत्र सात्त्विक सम्राट् या राजाको सर्वदेवमय कहा गया है—

सर्वदेवमयो नृपः । (भागवत ७।११।२०, विशेष द्रष्टव्य मनु० ५।९६; ७।४-५; वाल्मीकिरामायण २।१०२।४; ३।४०।१२-१३; ७।७६।४०-४६; अग्निपुराण २२।६।१६-२०; नारदस्मृति १८।२४; शुक्रनीति १।७१; मत्स्यपुराण २२६।९; श्रीविष्णुधर्मोत्तर २।७१; महाभारत १२।६८।४०-५४; शुक्रसप्तति ५।४९*)

मनुस्मृति ७।३ तथा महाभारत १२।५९ में विश्वकल्याणार्थ भगवान् विष्णुद्वारा सम्राट् प्रणयन-प्रदानकी बात आयी है । इसके अतिरिक्त पृथु, पुरञ्जय, पुरुकुत्स, कुबलाश्च तथा सुमति राजाओंके शरीरमें साक्षात् भगवान् विष्णुद्वारा प्रविष्ट होनेकी विस्तृत कथाएँ भी तत्त्वपुराणोंमें आती हैं—

* इन्द्रात्प्रभुत्वं ज्वलनात्प्रतापं क्रोधं यमाद्वैश्रवणाच्च वित्तम् ।

सत्त्वस्थिरे रामजनार्दनान्यामादाय राक्षः क्रियते शरीरम् ॥

तमाविशत्तदा विष्णुर्भगवान् तेजसा प्रभुः ।

उत्तङ्कस्य नियोगाद्वै लोकस्य हितकाम्यया ॥*

(ब्रह्माण्डपुराण ३।६३।४९; वायुपुराण ३।८८।४९;
ब्रह्मपुराण ७।७५; हरिवंश १।११।४५; विष्णुपुराण ४।
२।४०४।३।६; श्रीविष्णुधर्म ६।९ इत्यादि)

† तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम् ।

(महाभारत, शान्तिपर्व ५९।१२८)

तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेषातोः प्रवेशनात् ।

(विष्णुपुराण ३।१।४५)

तद्विरुद्ध साम्राज्य सम्पत्ति नहीं, महान् विपत्ति

एक ओर तो 'तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।' है तथा 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' भी दूसरी ओर उतना ही प्रसिद्ध है। योगवासिष्ठमें प्रह्लादने इस शान्तिके विशुद्ध साम्राज्यके सामने अशुद्ध या मिश्रित बाह्य साम्राज्यको अत्यन्त ही तुच्छ बतलाया है—

यथा—

वराकाः पेलवधियो बभूवुर्मे पितामहाः ।

ये साम्राज्यमिदं त्यक्त्वा रेमिरे भवभूमिषु ॥

कथं किल महादृष्टिर्भरिता ब्रह्मवृंहिता ।

क सरीसृपभीमाशा भीमाराज्यविभूतिभिः ॥

मूर्खा एव हि ते सर्वे बभूवुर्मे पितामहाः ।

इमां दृष्टिं परित्यज्य रेमिरे राज्यसंकटे ॥

परां दृष्टिमिमां त्यक्त्वा दग्धराज्ये रमेत कः ।

(योगवासिष्ठ ५।३४।६६-६७, ७८, ७९)†

* उत्तङ्ककी प्रार्थनासे—प्रेरणासे भगवान् ने अपने तेजके द्वारा उस सम्राट् के विग्रहमें प्रवेश किया ।

† कहीं 'तेजसा' पाठ भी है ।

‡ अर्थात् मेरे पूर्वज (पिता, ताऊ, चाचा इत्यादिसे ही तात्पर्य है। अथवा कश्यपजीको भी परशुरामदत्त पृथ्वीका शासक मान लिया है।) नितान्त अल्पबुद्धि एवं मूर्ख ही रहे, जो इस सम्पूर्ण विश्वमें ब्रह्मभरित ज्ञानदृष्टि तथा शान्तिके साम्राज्यको ठुकराकर संसारगर्तमें ही लुण्ठन करते रहे। भला, कहाँ तो यह शुद्ध ब्रह्मवृंहित महादृष्टियुक्त अनन्त आनन्दका निर्बाध साम्राज्य और कहाँ अत्यन्त भयदायिनी समस्त संकटमयी राज्यविभूति? इस परा दृष्टिको छोड़कर दग्ध—तुच्छ राज्य नामकी वस्तुमें भला कौन-सा बुद्धिमान् प्राणी रमण कर सकता है ?

योगवासिष्ठमें इस तरह राज्यकी निन्दा सर्वत्र देखनेको मिलती है। (देखिये, निर्णयसागर-संस्करण पृष्ठ १०३, १०६, १११, ६२४ इत्यादि) । विक्रमार्कचरितमें (१०।९२) नल, बलि, पाण्डव, यादव, हैहयार्जुनवध, सौदास, रावणादिके उदाहरणसे राज्यसंकटकी भयानकता दिखलायी गयी है। कालिकापुराण अ० ३३ तथा मार्कण्डेयपुराणमें अलर्क-सुबाहु-संवाद, हरिवंश (१।२४।२८-२९) तथा पद्मपुराण भूमिखण्ड ६६।१६३-६४ के राज्यकी आलोचना देखनेपर आजकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पञ्चतन्त्रमें इस प्रकारके श्लोक बार-बार आये हैं—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।

घटा नृपाणामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥

(३।२५१-५५, ५।६५ इत्यादि)

यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः ।

बधं राज्यकृतां राज्ञां तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ॥

(पञ्चतन्त्र ५।६७) *

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कुछ बाकी न रक्खा—

ससि गुर तिय गामी नघुषु, चढ़ेउ भूमिसुर जान ।

लोक बेद ते विमुख भा अधम न बेन समान ॥

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू । केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥

भरतहि दोसु देइ को जाए । जग बौराइ राज पदु पाए ॥

(मानस २।२२८।१, २२७।४)

इनका आधार यदि भर्तृहरिनिर्वेद ग्रन्थके निम्नलिखित श्लोकको कहें तो जँचता ही दीखेगा—

स्वाराज्याद्बहुषो पपात चक्रमे चन्द्रोऽपि गुर्वङ्गनां

इन्द्रो गौतमगेहिनीमपि गतः पातालमूलं बलिः ।

मग्ना एव चिरं महोर्मिषु परं संसारवारानिधे-

रेनामेकचरौ विधाय कमलां के नाम पारं गताः ॥

(भर्तृहरिनिर्वेद ०४।३)

प्राप्तिका अमोघ उपाय

अतः इससे बचकर सच्चे साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य किंवा भगवत्पद-प्राप्तिके लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्रोंमें इसका उपाय भी सुगम ही बतलाया गया है।

यथा—

* सम्पूर्ण मध्यकालका इतिहास विशेषकर गुलाम, खिलजी, तुगलक तथा मुगलकालका प्रत्येक शासक ही इसका उदाहरण रहा है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठोपनिषद् २ । ३ । १४, बृहदारण्यक ४ । ४ । ७,

शाखावनी २५)

यही बात 'प्रजहाति यदा कामान्' (गीता २ । ५१)

तथा—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान् ।

तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्वाय कल्पते ॥

(भागवत ७ । १० । ९) *

में कही गयी है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

राम प्रेम पथ पेखिए दिऐँ बिषय तन पीठि ।

तुलसी केंचुरि परिहरें होत साँपहू दीठि ॥

तुलसी जो लौँ बिषय की मुधा माधुरी मीठि ।

तौ लौँ सुधा सहस्र सम राम भगति सुठि सीठि ॥

(दोहावली ८२-८३)

एक लाख रुपयेके मूल्यका कीमती श्लोक

[एकाङ्की नाटक]

(लेखक—डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्.० ए०, पी-एच०डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

प्रथम शॉकी

मानसिक अपराधका प्रायश्चित्त

(कथासूत्र—'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके रचयिता महाकवि भारविका संस्कृत-साहित्यमें बड़ा गौरव है । महाकवि भारवि शिक्षा समाप्त कर घरपर पठन-पाठन, विद्याध्ययन और काव्य-सृजनमें रहने लगे । कविवर भारवि बड़े ही प्रतिभाशाली, कुशाग्रबुद्धि और प्रत्युत्पन्न-मति थे । भारतमें सातवीं शताब्दीमें उनकी विद्वत्ताकी कीर्तिसे चारों दिशाएँ निनादित हो उठीं ।

पर हाय ! चन्द्रमामें दिखायी देनेवाली कालिमाकी भौँति उनके मनको पीड़ा देनेवाली एक बड़ी कष्टदायक बात थी । सभी लोग उनके काव्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे । जनताका विश्वास था कि वे एक असाधारण प्रतिभाके युवक हैं । चारों ओरसे अपनी कीर्ति सुन-सुनकर कविवर भारविका मन आनन्दका अनुभव करता था, पर भारविके पिता उनकी विद्या और प्रतिभाकी कभी प्रशंसा नहीं करते थे; प्रत्युत कभी-कभी तो सामने ही निन्दातक कर दिया करते थे । पिताकी ये कटु

उक्तियाँ सुनकर युवक भारविको मनमें बड़ी व्यथा होती थी । कभी-कभी तो वे इतने क्षुब्ध हो उठते थे कि उनका मन पितासे बदला लेनेकी हिंसक भावनासे तिलमिला उठता था ।)

अपने घरकी छतपर टहलते हुए भारवि दिखायी देते हैं ।

भारवि—(दीर्घ निःश्वास लेकर) अहह ! पूर्णमासीकी यह मधुर रात्रि कितनी सुहावनी है ! चन्द्रोदयकी किरणोंकी स्निग्धतासे इस समय चक्रवा और चकोर कितने आनन्दित होंगे । कुमुदिनीके फूल खिलकर वायुको सुगन्धित कर रहे होंगे ! चारों ओर रजत-चन्द्रिका श्वेत कीर्तिकी तरह बिखरी हुई है । और मलय-मारुतकी तरह आज भारतमें मेरे काव्यकी प्रशंसा भी तो ऐसी ही फैली हुई है । अपनी कीर्ति कितनी सुखद लगती है; श्रेष्ठ विद्वान् पुत्र, पतिव्रता पत्नी, उपयोगी विद्या, नीरोग शरीर, धन और अच्छे मित्रकी तरह सुखद ! ठीक इस चन्द्रमासे निकलनेवाली श्वेत ज्योत्स्नाकी तरह ! जिस किसीने मेरे मधुर काव्यका रसास्वादन एक बार किया है, उसकी जिह्वा प्रशंसाके बिना चुप नहीं रह सकी है । आजकल युवक एकान्तमें बैठकर घंटों दिमाग लड़ाकर कलेजा घुला-घुलाकर, नवीन, प्राचीन भाव जो भी मनमें आया, पद्यके टूटे-फूटे साँचेमें ढालकर प्रसिद्धि चाहते हैं । कोई करे तो इतनी काव्य-साधना ! रसिक समाज

* हे कमलनयन ! मनुष्य जैसे ही अपने मनकी सारी कामनाएँ—संकल्पको परित्याग कर मन मूँद लेता है, वैसे ही आपकी शॉकी पा लेता है, आदका रूप बन जाता है ।

मेरे काव्यमें अवगाहन कर कमलकी तरह खिल उठता है। मेरी विद्वत्ता और काव्यकी प्रतिभाकी कीर्ति चारों ओर वायुकी तरह फैली हुई है। पर हाय ! क्या कहूँ ! उच्चारण करते लज्जा आती है। स्वयं मेरे पिताजी ही कभी मेरी प्रशंसा नहीं करते। दुनिया मेरी भरपूर तारीफ करे, किंतु मेरे पिताजी निन्दा करते रहें, यह मुझे सहन नहीं होता। लोग मेरा काव्य-सुधा-रसपान कर मुग्ध हो उठते हैं—प्रशंसाके पुल बाँध देते हैं। एक-से-एक बढ़कर विशेषणोंका प्रयोग करते हैं—अपनी साहित्य-सम्बन्धी बिमल कीर्ति सुनकर मन आनन्दित हो उठता है और वास्तवमें मैंने अपनी योग्यता, विद्या-बुद्धि बढ़ानेमें बड़ा श्रम किया है। दिन-दिन और रात-रात बैठकर काव्य-साधना की है, तभी ऐसी सिद्धि भी मिली है—मेरे श्रमका पुरस्कार है यह !

लेकिन क्या करूँ ? इस पृथ्वीपर सभी मेरा यशोगान करते हैं, केवल मेरे पिताजी ही निन्दा करते हैं। हाय ! हाय !! मेरा कैसा दुर्भाग्य है ? (हाथ मलते हुए) निष्ठुर पिताजीके कारण आज मेरी साहित्यिक कीर्तिको बड़ा धक्का पहुँच रहा है। क्या करूँ ? कुछ समझमें नहीं आता ?

ठीक है। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि निन्दा-जैसे काँटोंको अब अधिक फैलने न दूँगा—पिताजीकी हत्या कर दूँगा। (तलवार निकालता है) यह मेरी कीर्तिका मार्ग साफ कर देगी, और कोई मार्ग नहीं है। मजबूर हूँ।

[इतनेमें किसीके छतपर आनेकी आवाज, सीढ़ियों-पर चढ़नेकी पग-ध्वनि सुन पड़ती है। वे सावधान हो जाते हैं।]

अरे, यह पदध्वनि कैसी ? मेरे पिताजी और माताजी यहाँ छतपर ही चढ़े आ रहे हैं। दीवारके पीछे छिप जाऊँ, मुझे ये क्या कहते हैं ?

(दीवारके पीछे छिपते हैं। भारविके माता-पिताका प्रवेश)

माता—(आह्लादित स्वरमें) अहह ! पूर्णमासीका यह चन्द्रमा आज कितना प्यारा-प्यारा दिखायी दे रहा है—चारों ओर धरतीपर चाँदी-ही-चाँदी बिखरी पड़ी है ! देखिये, इसके श्वेत प्रकाशसे सब दिशाएँ कैसी उज्ज्वल हो उठी

हैं। बड़ा मनोरम समय है। चन्द्रमाकी यह कीर्ति-द्युति कैसी फैली है ?

पिता—इसकी कीर्ति-द्युति ऐसे ही फैल रही है, जैसे आज काव्य-जगत्में मेरे प्यारे पुत्र कवि-शिरोमणि भारविकी कीर्ति-द्युति फैल रही है !

माता—(आश्चर्यभरे स्वरमें) आप तो सदा अपने पुत्र भारविकी निन्दा किया करते हैं, आज यह क्या कह रहे हैं ? उसकी कीर्ति-ज्योति इस चन्द्रमाके प्रकाशकी तरह चारों ओर फैली हुई है, क्या यह वास्तवमें सत्य कह रहे हैं ?

पिता—और नहीं तो क्या ? भारवि-जैसे प्रतिभाशाली पुत्रपर मुझे गर्व है। उसकी विद्वत्ता सत्य ही गहन है। लोग ठीक ही तो उसकी प्रशंसा करते हैं।

माता—किंतु आप तो सदैव उसकी निन्दा ही किया करते हैं। कटु शब्दोंका प्रयोग कर देते हैं—ये कठोर शब्द सुनकर आपका पुत्र मनमें क्या सोचता होगा ?

पिता—अरे, यह सब तो दिखावटी निन्दा है। (नजर न लगे, इसलिये माता-पिता माथेपर काजलका काला टीका लगा दिया करते हैं।) वास्तविकता यह है कि मैं उसकी मन-ही-मन बड़ी प्रशंसा किया करता हूँ। वह बड़ा कुशाग्रबुद्धि और प्रत्युत्पन्नमति है। ऐसे सुपुत्र अनेक जन्मोंके पुण्यस्वरूप प्राप्त होते हैं। मुझे उसपर गर्व है !

माता—फिर आप उसकी बुराई क्यों करते हैं ? कभी आप भी प्यार और प्रशंसाके दो शब्द उसके लिये कहा करें।

पिता—मीठा खाते-खाते मीठेमें मिठास कहाँ रहता है ?

माता—आपका क्या मतलब है ? स्पष्ट कीजिये।

पिता—निन्दा इसलिये करता हूँ, जिससे उसको अपनी काव्य-प्रतिभापर अभिमान न हो जाय ! जानती हो ? अपनी कीर्ति सुनते-सुनते उसे घमंड हो जायगा, तो वह अपनी उन्नति करनी छोड़ देगा; फिर उसकी प्रतिभा नष्ट हो जायगी। मनुष्यकी कीर्तिकी रक्षा उसकी विनम्रता ही करती है। अहंकार अवनतिका प्रवेशद्वार है—समझी ?

माता—मैं भी अभीतक पिताद्वारा की जानेवाली निन्दाका गुप्त रहस्य नहीं जान पा रही थी।

पिता—नहीं तो, कौन ऐसा पिता है, जो अपने पुत्रकी कीर्ति सुनकर आनन्दित न हो ? मेरा प्यारा पुत्र भारवि तो मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय है।

माता—ओफ् ! तो आज यह रहस्य स्पष्ट हुआ ! आपको वह प्राणोंसे प्यारा है !

(इतनेमें खटपटकी ध्वनिसे भारवि उनके सामने आते हैं । तलवार सामने पटककर चरणोंमें गिर पड़ते हैं । माता-पिता भौचक्केसे रह जाते हैं कि यह क्या हुआ !)

भारवि—क्षमा, पिताजी क्षमा करें । अपनी निन्दासे क्रुद्ध होकर आपकी हत्या करनेका इरादा लेकर मैं आज यहाँ आया था । मैं कैसा मूर्ख था, कैसा पापी । मैंने सोचा कि मेरे पिता ही मेरी निन्दा करते हैं । इससे मेरी कीर्तिको बड़ा धक्का पहुँचता है—पिताकी हत्या कर देनेसे निन्दकका अन्त हो जायगा । अभिमानसे मेरा विवेक नष्ट हो गया था । पिताकी हत्याका महापाप मुझसे हो गया है । मैं बड़ा पापी हूँ । क्षमा, क्षमा, मुझे क्षमा करें देव !

पिता—(स्नेहसे) किंतु तुमने हत्या की कहाँ है ?

भारवि—मुझे बड़ा भारी मानसिक अपराध तो हो गया है । हाय ! बड़ी आत्मग्लानि हो रही है । हाय ! मैं कैसा पापी हूँ ? इस पापका प्रायश्चित्त करूँगा । मेरे मानसिक अपराधका क्या दण्ड है ? मुझे सजा दें ।

पिता—(परिहासमें) मूर्ख, हठ छोड़ ! जो हो गया, सो हो गया ! तुझे अपनी गलती मालूम हो गयी, बस, यही बहुत है—दुखी मत हो मेरे पुत्र !

भारवि—जबतक मैं प्रायश्चित्त न करूँगा, तबतक मनको शान्ति न मिलेगी । मुझे प्रायश्चित्त करने दीजिये । पाप प्रायश्चित्तसे ही धोया जा सकता है पिताजी !

पिता—बेटा ! व्यर्थ ही आग्रह न कर । जो अनजानमें हो गया, उसे मत दुहराना, बस ।

भारवि—पापका प्रायश्चित्त करनेसे ही मन और आत्मा हलके हो जायेंगे, मैं तो प्रायश्चित्त करूँगा । प्रायश्चित्त बताइये..... ।

पिता—(हँसकर) इसका तो एक ही प्रायश्चित्त है । बस एक—(हँसते रहते हैं)

भारवि—आप जो कहेंगे, वही प्रायश्चित्त करूँगा । आत्मा हलकी हो जायगी ।

पिता—(परिहासभरे स्वरमें) बारह वर्षतक ससुरालमें जाकर रह !

भारवि—ठीक है, पिताजी ! प्रायश्चित्तके दण्ड-स्वरूप मैं इसी सजाको स्वीकार करता हूँ । बारह वर्ष ससुरालमें उपेक्षा, तिरस्कार और लज्जा सहूँगा ।

पिता—भारवि ! मैं तो यह सब हँसी-मजाकमें ही कह रहा था ।

भारवि—चाहे आपने हँसी की हो, मैं तो अवश्य ही यह दण्ड सहन करूँगा ।

पिता—सब बातें मैंने हँसीमें कही थीं । पहले तो मैं तुझको क्षमा करता हूँ । इससे भी तेरे मनकी ग्लानि न जाय, तो यहाँ घरपर ही कोई प्रायश्चित्त कर डाल ।

भारवि—नहीं पिताजी ! मेरे मनकी ग्लानि तो बारह वर्षतक ससुरालमें रहकर ही जायगी । अब आप आज्ञा दीजिये, वही लज्जा सहूँगा ।

पिता—भारवि ! तू मेरा इकलौता पुत्र है । बड़ी मुसीबतोंसे तुझे पाल-पोसकर आज इस योग्य बनाया है । तेरी माँ तो तेरे बिना एक पल भी जीवित नहीं रह सकती । तेरे वियोगसे हमें कितना क्षोभ होगा, इसका तनिक अनुमान तो कर बेटा ! हठ छोड़ दे ।

भारवि—नहीं पिताजी ! मैं ससुराल चला । प्रायश्चित्त करना ही है मुझे, तभी मेरी आत्माको शान्ति मिलेगी । [जाता है]

पिता—लो, लड़का जल्दवाजीमें भाग गया । यह नहीं जानता कि जल्दवाजी गलतियोंकी जननी है । यह दुष्प्रवृत्ति शक्ति और आत्मविश्वासको भंग कर देती है । हाय ! अब क्या करूँ ?

दूसरी झाँकी

भारवि ससुरालमें

(ससुरालमें रहना लज्जाका जीवन है । पहले कुछ दिनतक तो ससुरालमें भारविका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ । स्वादिष्ट भोजन, मित्रोंके समागमका सुख उनको दिया गया, भोजनके अवसरपर स्त्रियाँ मङ्गलगान करतीं । सभी उन्हें प्यार दिखाते । पर

जब समुरालवालोंने यह सुना कि भारवि बारह वर्षों तक यहीं रहने आये हैं, तब उनका उत्साह ठंडा पड़ गया।)

भारवि—(खेत जोतते हुए) पिताजीने ठीक ही सजा दी है। समुरालमें रहकर मुझे जो लज्जा और तिरस्कार मिल रहा है, वही प्रायश्चित्तका रूप है। इस अग्निमें तपकर ही मेरी आत्मा पवित्र होगी। चार-छः दिनमें ही मेरे हाथोंमें खेतीके लिये हल और बैलोंकी रस्सी पकड़ा दी गयी है। कहाँ मैं साहित्य-चर्चा किया करता था। आज कहाँ मैं सारा दिन खेत जोतने, घास खोदने, पशुओंकी रखवाली करने और उन्हें चारा-दाना देनेमें नष्ट किया करता हूँ। किसानों-जैसी सूखी जिंदगी है। हाय ! कैसी लज्जाका विषय है, ये मुझे अपने घरवालों-जैसा साधारण आदमी मानने लगे हैं। दामादके प्रति जो सम्मान होता है, वह सब समाप्त हो चुका है। ये लोग मेरा अपमानतक कर बैठते हैं। क्या करूँ ? समुरालमें कितनी अप्रतिष्ठा होती है, यह सब सहन कर रहा हूँ। पर प्रायश्चित्त जो ठहरा। ये कड़वे घूँट तो पीने ही पड़ेंगे। बारह लंबे वर्षों तक लज्जा-ही-लज्जा—अपमान ही अपमान। हे परमेश्वर ! पिताकी हिंसाके पापका यह प्रायश्चित्त ! बस, जिंदा मौत ही तो है। पत्नी आ रही है, इसके सामने कुछ न कहना चाहिये। यदि इसके परिवारवाले मेरा अपमान करते हैं तो इसमें इस बेचारीका क्या दोष ?

[पत्नी आती है]

भारविकी पत्नी—(दुःखभरे स्वरमें) पतिदेव ! मैं आपको चेहरेसे ही जान गयी हूँ कि मेरे परिवारवाले आपको परेशान करते हैं। अपमानतक कर बैठते हैं। व्यंग्यवाण-जैसे दुर्वचनतक कह बैठते हैं। हाय ! ये शब्द आपको कैसे बुरे लगते होंगे ! मेरी एक सलाह है। आज्ञा दें तो एक सुझाव उपस्थित करूँ ?

भारवि—(जैसे अन्धकारमें एक प्रकाश-किरण मिली हो) तुम सदा ही मेरी सहायता करती रही हो। जबतक पुरुष-पर आपत्ति नहीं आती, तबतक उसे अपनी पत्नीके गुणोंका पता नहीं चलता। विपदा आनेपर उसे अनुभव होता है कि उसकी स्त्री सच्ची संगिनी और देवी है। बोलो, क्या करूँ मैं इस विपत्तिमें ?

पत्नी—मैं अपने पिताजीसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ कि हम दोनोंको अलगसे कुछ खेत दे दिये जायँ। हम अलग अपना घर बनाकर गुजर करेंगे।

भारवि—(हर्षसे) अच्छा सुझाव है। समुद्रके अंदरका खजाना इतना महँगा नहीं जितना कि वह आनन्द जो पतिव्रता धर्मपत्नीसे पतिको मिलता है। (अलग रहना ही ठीक रहेगा।)

पत्नी—रोज-रोजकी किच-किचसे तो यही अच्छा है कि हम अलग रहें, चाहे गरीबीमें ही रहना पड़े।

भारवि—संसार-वाटिकामें स्त्री सबसे उत्तम फूल है, उसका लालित्य, उसकी सुगन्ध और मनोहारिता विचित्र है। स्त्रीकी आँखोंमें ईश्वरने दो दीपक जला दिये हैं, जो अपने प्रकाशसे मुझ-जैसे भूले-भटके पुरुषोंको स्वर्गकी राह दिखाते हैं। अलग झोंपड़ीमें ही रहेंगे।

पत्नी—बस, अब आपकी आज्ञा मिल गयी—यहाँका अपमान नहीं सहेंगे।

भारवि—पृथ्वीपर स्त्रीके सच्चे और दृढ़ प्रेमसे बढ़कर और कोई सुखदायी वस्तु नहीं है। मधुरभाषिणी और पवित्र स्त्रीसे ईश्वर भी सदैव प्रसन्न रहते हैं। तुम मेरे साथ हो तो खेतोंपर किसानका काम करते हुए ही सुख है।

तीसरी झाँकी

भारवि परदेश गये

[भारवि खेती करने लगे। पर काव्य लिखनेवाले कविसे भला क्या खेती होती। सारे खेत चौपट हो गये। सारी उपज चिड़ियाँ और जानवर खा गये। भूखों मरने लगे—फिर नया कष्ट]

पत्नी—(दुःखसे) संस्कृतके कविसे क्या खेती होती। आप सारे दिन श्लोक बनाते हैं, खेतीमें मन नहीं लगता। व्याकरणकी शुद्धियाँ करते रहते हैं। क्या खायेंगे अब ?

भारवि—मजाक न करो। कोई रास्ता सुझाओ, पेट कैसे भरे ? कोई नया काम करें।

पत्नी—आप खेतीका कठोर धंधा छोड़ दीजिये। परदेश जाकर काव्य-रचनाद्वारा ही कुछ कमाकर लाइये।

परदेशमें आपको काव्य-पारखी मिलेंगे। वे काव्यकी कद्रकर धन देंगे। उसी पैसेसे घरकी गुजर-बसर चल सकती है। यहाँ कविता कोई नहीं समझता है।

भारवि—हाँ, तुम्हारा विचार तो ठीक है। ये काव्यकी परख नहीं जानते। खेतीका काम अनुकूल नहीं पड़ रहा है। मुझे परदेश जाकर कुछ धन कमाकर लाना चाहिये।

पत्नी—किंतु आपके जानेके बाद मैं अपना पालन-पोषण कैसे करूँगी? हमारे पास खाने-पीने तकके लिये कुछ नहीं है। आर्थिक संकट आ जायगा। किसके आगे हाथ फैलाऊँगी? परदेश जानेसे पूर्व मेरे खर्चका प्रबन्ध तो करते जाइये।

भारवि—कविके पास पैसा कहाँ! लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंका परस्पर वैर है। समाज लेखकका सम्मान करता है, पर उसकी भूखको नहीं बुझाता।

पत्नी—ऐसी निराशावादी बातें कविको शोभा नहीं देती। कलाका चाहे आर्थिक मूल्य न हो, वह रसिकोंको ब्रह्मानन्द-जैसा कल्याणकारी सुख देती है। लोगोंको आध्यात्मिक दृष्टिसे ऊँचा उठाती है। पवित्र लोगोंमें नयी आशा और नये साहसका संचार करती है। आपके जीवनका जो सत्य, शिव और सुन्दर रूप है, जनताके लिये जो हर प्रकार कल्याणकारी है, वह आपके काव्यमें मुखरित हो रहा है।

भारवि—ओफ! तो तुम्हें मेरा काव्य पसंद है? उसमें पूर्ण विश्वास है?

पत्नी—हाँ, और नहीं तो क्या? एक दिन काव्य-जगत्के सम्राट् आप ही बननेवाले हैं।

भारवि—फिर यह अर्थ-संकट क्योंकर टले?

पत्नी—एक काम कीजिये।

भारवि—परमेश्वरने स्त्रीको पुरुषकी अपेक्षा अधिक बुद्धि दी है। तुम सदैव मेरे संकटको दूर करती रही हो। तुम-जैसी धर्मपत्नी पाकर ही मैं इस खेतपर भी दाम्पत्य-जीवनका सुख लूटता रहा हूँ। आज मुझे अनुभव हुआ कि पत्नी हर स्थितिमें सहायता और सहयोग करनेवाली जीवन-सहचरी होती है। देवताओंमें सभी गृहस्थ हैं। ब्रह्माकी पत्नी सावित्री, विष्णुकी लक्ष्मी, शंकरकी पार्वती, इन्द्रकी शची, बृहस्पतिकी अरुन्धती-

जैसी ही साध्वी और कुशाग्र हो तुम! इस गुत्थीको भी सुलझाओ।

पत्नी—आप एक श्लोक लिखकर मुझे दे जायँ। जब मुझपर कोई बड़ा अर्थ-संकट आयेगा तो वह श्लोक बेचकर काम चलाऊँगी। आप जल्दी ही परदेशसे लौट आइयेगा। शायद कोई काव्यका पारखी मिल जाय।

भारवि—(आश्चर्यमिश्रित हर्षसे) अहह! खूब युक्ति सुझायी। मैं अभी एक उत्तम बहुमूल्य श्लोक तैयार करता हूँ। पूरा दिन उसमें लगाऊँगा। उसका मूल्य एक लाख रुपया होगा। वह बेचकर तुम काफी दिनोंतक घरका खर्च चला सकोगी। मैं अभीसे इस महत्त्वपूर्ण कार्यमें संलग्न हो जाता हूँ।

(श्लोकको सोचनेमें तन्मय हो जाते हैं। पूरा दिन सोच-विचारके उपरान्त वे एक ऐसा बहुमूल्य श्लोक तैयार करते हैं, जो एक लाखमें बिक सकता है। उस श्लोकको धर्मपत्नीको देकर भारवि पैसा कमाने परदेश चले जाते हैं।)

चौथी झाँकी

राजाका नया बाजार

[कविवर भारविके चले जानेके बाद उनकी धर्म-पत्नीने घरका बचा-खुचा अब खाकर काफी दिनतक काम चलाया, पर वह आखिर कबतक चलता। एक दिन सब कुछ समाप्त हो गया। घरमें अबका एक दाना न रहा। बेचारी भूखों मरने लगी। वहाँके राजाने एक नया बाजार लगाना आरम्भ किया था। हर सप्ताह यह बाजार लगता और विक्रेताओंको उत्साहित करनेके लिये सायंकालतक न बिकनेवाली हर बची हुई चीजको राजा स्वयं खरीद लिया करता था। एक दिन भारविकी पत्नी भी अपना श्लोक बेचनेके लिये बाजारमें जा बैठी।]

भारविकी पत्नी—बाजारमें भाँति-भाँतिकी चीज़ें बिक रही हैं। लोग खरीदने और बेचनेमें व्यस्त हैं। हर तरहकी वस्तुका कोई खरीदार है, पर हाय! मैं कितनी देरसे

प्राहककी बाट देख रही हूँ, मेरे कीमती श्लोकका कोई खरीददार नहीं है। क्या करूँ ? कोई काव्यका पारखी नहीं मिल रहा है ? यहाँ श्लोकका महत्व समझनेवाला एक भी तो नहीं आ रहा है। प्रतीक्षा करते-करते शाम होने आयी, सभीने अपना-अपना माल बेचकर पैसे कमा लिये, पर मेरे श्लोकके एक लाख क्या एक हजार भी देनेवाला कोई काव्य-पारखी नहीं आया है ! क्या कोई उच्च साहित्यकी कद्र करनेवाला इस प्रदेशमें नहीं है ? बाजार उठ रही है, शाम हो रही है, मैं भूखी बैठी हूँ, क्या करूँ ? अब तो मैं इस श्लोकको एक हजारहीमें बेच डालूँगी ! कोई ले तो इसे !

राजाके नौकर-(पूछ-ताछ करते हुए) हमारे नरेशका आदेश है कि दिनभरमें जो वस्तुएँ बाजारमें न बिकें, वे शेष चीजें राज्यकी ओरसे खरीद ली जायँ। हम यह जाँच कर रहे हैं कि किसकी क्या वस्तु बिकनेसे शेष रह गयी है ? आपकी कोई वस्तु बाजारमें बिकनेसे रह गयी है क्या ?

भारविकी पत्नी-जी हाँ, बड़ी कीमती वस्तु !

नौकर-कहाँ है वह ? दीखती नहीं ! क्या कोई बहुमूल्य हीरा-जवाहरात है, जो छिपाकर रख छोड़ा है ?

पत्नी-वह संस्कृतभाषामें लिखा एक श्लोक है।

नौकर-(आश्चर्यसे) अरे, यह तो बिल्कुल नये प्रकारका माल है ? (कुछ रुखाईसे) क्या दाम लोगी उस श्लोकका ?

पत्नी-एक हजार रुपये।

नौकर-(अपने साथियोंसे) यह स्त्री पागल-सी मालूम होती है। भला एक हजारमें एक श्लोक कौन खरीदेगा ? तभी तो यह वस्तु बाजारमें बिकी नहीं।

[तभी कोलाहल सुन पड़ता है। राजाकी सवारी उधर ही आ जाती है। राजाको श्लोक बेचनेवाली स्त्रीमें भारी दिलचस्पी उत्पन्न होती है।]

राजा-(नौकरोंसे) सबका माल ले लिया गया ?

नौकर-जी, यह स्त्री एक श्लोक लिये बैठी है। इसका मूल्य एक हजार रुपया माँग रही है। दो पंक्तियोंका दाम एक हजार। इतना अधिक मूल्य भला कैसे दिया जाय ? सरकार, मुझे तो यह औरत पागल मालूम होती है।

राजा-(स्त्रीसे) देखें, तुम्हारा श्लोक क्या है ? किसने लिखा है यह ?

पत्नी-सरकार, मेरे पतिदेव संस्कृतके प्रसिद्ध महाकवि भारवि हैं। उन्होंने यह श्लोक लिखा है। यह बड़ा महत्वपूर्ण है। दाम तो इसके बहुत अधिक हैं, पर मैं इसे एक हजार रुपयेसे कममें कभी न बेचूँगी। देखिये, आप तो इसका गूढ़ अर्थ समझ लेंगे।

(श्लोक राजाको देती है।)

राजा-(श्लोक पढ़ते हैं)

सहसा विदधीत न क्रिया-

मविवेकः परमापदां पदम्।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं

गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

[अर्थ है दैनिक जीवनमें कभी कोई काम जल्दीमें उतावलेपनसे न कीजिये। जल्दबाजीमें बिना काफ़ी सोचे-समझे जो लोग आवेशग्रस्त हो काम कर बैठते हैं, वे फलस्वरूप भारी विपत्तियाँ पाते हैं। उतावलापन खतरनाक नतीजे और उलझनें पैदा करनेवाला है। भविष्यके परिणामपर पर्याप्त विचारकर काम करनेवालेके यहाँ गुणपर मुग्ध हो सम्पदा स्वयं आती है।]

राजा-खूब कहा है ! यह श्लोक सचमुच कामका है। जीवनमें कभी काम आ सकता है। (नौकरोंसे) इस स्त्रीको एक हजार रुपये मूल्य देकर यह श्लोक खरीद ले। बात तो सबके लाभकी है। आतुरता और जल्दबाजीमें बिना फल सोचे-विचारे किये गये कामोंसे बुराई ही निकलती है। प्रायः लोगोंको हर बातमें बहुत जल्दी रहती है; हमारे कर्मचारी, जिस कार्यमें जितना समय और श्रम लगाना चाहिये, उतना नहीं लगाना चाहते, अभीष्ट आकाङ्क्षाकी सफलता तुरंत देखना चाहते हैं। यह अधीरताकी सामाजिक कमजोरी जन-समाजके मस्तिष्कोंमें बुरी तरह प्रवेश कर गयी है। लोग अपनी आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये ऐसा रास्ता ढूँढ़ना चाहते हैं, जिससे आवश्यक प्रयत्न न करना पड़े और जादूकी तरह उनकी मनोकामना तुरंत पूरी हो जाय। हमारे तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनियोंने मानव-जीवनको सफलता, समृद्धि और शान्तिसे परिपूर्ण करनेका जो मार्ग

सबसे सरल पाया, उसी राजपथका नाम धर्म एवं सदाचार रखा। उन्नति और सदाचरणके मार्गपर धैर्यपूर्वक चलते रहना ही इस श्लोकका तात्पर्य है।

(नौकरोंको आदेश)

‘इस महत्त्वपूर्ण श्लोकको शयनागार, कचहरी, बैठक, भोजनागार, अन्तःपुर आदि मुख्य-मुख्य स्थानोंमें कागजों-पर लिखवाकर टँगवा दो। यह शिक्षा हर स्थिति, हर उम्रके नागरिकके काम आयेगी। जल्दबाजीके रोगसे बचानेके लिये यह श्लोक बड़ा उपयोगी है। धैर्यपूर्वक सदाचरणके मार्गपर न चलकर अधीर लोग बहुत जल्दी-जल्दी सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके पास स्वयंका भी कुछ नहीं ठहरता। जल्दी ही बहुत धन कमा लेने और आर्थिक स्थिति सुधार लेनेकी कामनासे प्रेरित होकर लोग चोरी, बेईमानी, ठगी, हिंसा, विश्वासघात, रिश्वत-जैसे अनुपयुक्त रास्ते अपनाते हैं। अनीतिके इन रास्तोंको रोकनेके लिये यह श्लोक बड़ा फायदेमन्द रहेगा।’

नौकर-श्रीमानका जैसा आदेश! इस श्लोकको अभी सब स्थानोंपर लिखकर टँगवाते हैं।

[राजाके आदेशका पालन होता है और मुख्य स्थानोंपर श्लोक लिखाकर टँगवा दिया जाता है जिससे सभीको चेतावनी रहे, पथ-प्रदर्शन मिले।]

पाँचवीं झाँकी

नाईद्वारा हत्याका निष्फल प्रयत्न

[उस राजाका भाई राजाकी हत्या करवाकर स्वयं राज्यका मालिक बनना चाहता है। वह बहुत दिनोंसे हत्या करानेका षड्यन्त्र रच रहा है। उसने राजाके नाईको रिश्वतका लोभ देकर अपने हाथोंमें कर लिया है। हजामत बनाते समय उस्तरसे राजाका गला काट डालनेकी बात तय हुई है। नाई हजामत बना रहा है—सामने दीवारपर श्लोक लिखा हुआ है। नाई उसे पढ़कर शिथिल पड़ जाता है।]

राजा-अरे नाई! हजामत बनाते-बनाते तुम रुक-रुक क्यों जाते हो ?

नाई—(जिसके मनमें हत्या करनेकी बात बैठी हुई है) नहीं तो हुजूर, नहीं तो बस, थोड़ी देर और, हजामत तो बन चुकी है। अब आपको अधिक देर नहीं बैठना पड़ेगा। मैं अभी समाप्त करता हूँ (उस्तरा तेज करता है)।

राजा—तुम अपना उस्तरा पत्थरपर रगड़-रगड़कर क्यों तेज कर रहे हो ? एक बार ही तेज करके बैठते ?

नाई—यह लीजिये बस, उस्तरा तैयार है। हजामत पूरी होनेवाली है। (उस्तराको जैसे ही दाढ़ीपर लगाता है, उसका अपराधी हाथ काँप उठता है। वह बुरी तरह थर-थराने लगता है—काँपने लगता है।)

राजा—तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं। मुँहपर हवाइयाँ उड़ रही हैं। तुम्हारे मनमें कोई अपराध-वृत्ति छिपी हुई है ? बोलो, बोलो, तुम क्या करना चाहते हो ?

[नाई राजाके चरणोंपर गिर जाता है।]

नाई—(प्राण-भिक्षा माँगते हुए) अन्नदाता ! लोभके कारण आपके भाईके कहनेसे मैं आपकी हत्या करनेको था कि सामने टँगे श्लोकने मुझे सावधान कर दिया। मैं आपका गला न काट सका। मैं हत्याका अपराधी हूँ। यदि यह श्लोक न पढ़ता और उसपर विचार न करता तो उतावलेपनमें मुझसे भयानक अपराध हो जाता। इस श्लोकपर मेरी दृष्टि सहसा जा पड़ी—

‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’

(कोई काम उतावलेपनमें मत करो।)

मैं यह पढ़कर शिथिल हो गया। हत्यासे बच गया। महाराज ! प्राणदान दें। इस श्लोकने आपके और मेरे—दोनोंहीके प्राण बचाये।

राजा—(आश्चर्यसे) ओफ ! तो तुम मेरी हत्या ही करने चले थे। अब मैं बड़ा सावधान रहूँगा। सम्भव है, वह पापात्मा मेरी हत्याका कोई और षड्यन्त्र करे। यह श्लोक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैंने हजार रुपये खर्च किये थे, आज वे वसूल हो गये। खूब कहा है, ‘सहसा विदधीत न क्रियाम्।’ उतावला सो बाबल। उतावलेकी तुलना बाबलेसे करनेका यही मतलब है कि जिस समय आदमी उद्विग्नतामें होता है, उस समय उसमें थोड़ी-बहुत वे सारी कमियाँ और विकृतियाँ आयी रहती हैं, जो किसी पागल व्यक्तिके

पायी जाती हैं। आवेग, उद्वेग, व्यग्रता, अस्तव्यस्तता, अस्थिरता और असंतुलन आदि दोष बावले व्यक्तिके ही लक्षण हैं। नाई ! तुमने सच कह दिया है, इसलिये तुम्हें क्षमा-दान देते हैं। भविष्यमें पापके गंदे मार्गपर मत जाना। उतावलेपनसे कोई काम मत करना। इस बहुमूल्य श्लोकने मेरे प्राण बचाये। इसे लिखनेवाला कवि कितना बुद्धिमान होगा।

छठी झाँकी

दुष्ट वैद्यसे प्राण बचे

[नाईद्वारा निष्फल प्रयत्न होकर भी राजाका षड्यन्त्रकारी अपराधी वृत्तिका भाई राजाकी हत्याकी नयी-नयी तरकीबें सोचता और करता ही रहा। उसने राजाके वैद्यको मिलाया। संयोगसे राजा बीमार पड़ा। इसी वैद्यकी चिकित्सा होने लगी।]

राजा—(बीमारीके कारुणिक स्वरमें) वैद्यजी ! मेरी हालत बड़ी नाजुक है। दिन-पर-दिन कमजोरी बढ़ रही है। आप कोई ऐसी अचूक दवा दीजिये, जिससे रोग दूर हो। आपपर मेरा अखण्ड विश्वास है।

वैद्य—(दवामें विष मिलाकर पिलाना चाहता है, पर उसकी दृष्टि दीवारपर टँगे हुए श्लोकपर पड़ती है।) दवाका यह कटोरा आपके लिये खास तौरपर तैयार किया है।

(उसके हाथ काँपने लगते हैं ।)

राजा—अरे...अरे...यह आप पीपलकी पत्तीकी तरह क्यों काँप रहे हैं ? आपके हाथसे दवाईका कटोरा गिरा—वह गिरा—आप घबरा क्यों रहे हैं ? दवाई पिलाने-पिलाने आप रुक क्यों गये ? आप चिन्तित क्यों हैं ? अरे, आप तो अपराधीकी तरह डर रहे हैं ?

वैद्य—(कटोरा भूमिपर रखकर) यह दवा ठीक नहीं है, दूसरी दूँगा।

राजा—(आश्चर्यमें) अभी तो आप कह रहे थे कि मेरे लिये खास तौरपर दवाई बनायी है ? आपपर मुझे संदेह है। सच-सच बताइये, आपके मनमें उद्विग्नता क्यों है ? आप क्यों थर-थर काँप रहे हैं ? मनमें क्या परेशानी पैदा

हो गयी है ? जरूर कुछ-न-कुछ रहस्य है ? अरे, आपका तो मुँह पीला पड़ गया !

वैद्य—(पैरोंपर गिर पड़ता है) क्षमा, क्षमा महाराज ! मुझे आपके भाईने धूस दी है कि दवाईमें विष दे दूँ। जब मैं विष-भरा कटोरा आपको पिलानेवाला था, तभी मेरी दृष्टि दीवारपर टँगे हुए श्लोकपर पड़ी 'सहसा विदधीत न क्रियाम्।' इस श्लोकने मुझे सावधान कर दिया। उतावली बड़े-बड़े अनर्थोंकी जड़ है। मैं आपकी हत्याद्वारा ऐसा उतावलीका काम कर रहा था, जिसका दुष्परिणाम घोर पश्चात्ताप, परेशानी और व्यग्रता ही होती।

राजा—ओफ ! तुम लोभवश मेरी हत्या करने चले थे। तुमने क्या सोचा था ?

वैद्य—(क्षमाकी भिक्षा माँगते हुए) मैं यह श्लोक पढ़-कर सोचने लगा कि इस राजाको, जो मेरे विश्वासपर है यदि मैं विष दे दूँगा तो उसका भाई, जो गद्दीपर बैठेगा, वह मेरा विश्वास कैसे करेगा ? और उसकी दृष्टिमें तो मैं अपराधी बन ही जाऊँगा। उफ ! उतावलेपनमें मैं क्या अपराध करने जा रहा था। इस श्लोकने बचाया है। इन्हीं शब्दोंने मुझे पापसे पूर्व सोचनेको विवश किया।

राजा—(नौकरोंसे) मैं वैद्यजीको माफ करता हूँ। हमारे भाईको बन्दीगृहमें डाल दो। संसार कैसा कुटिल है। अपनेकी ही हत्याका प्रयत्न—कितना विश्वासघात।

[वैद्यको ले जाते हैं]

राजा—उस श्लोकने मेरे दो बार प्राण बचाये हैं। उसमें बड़े महत्वपूर्ण तथ्य छिपे हैं। अब तो उसका मूल्य लाखोंसे अधिक है। छोटी-सी उतावली बड़े अनिष्टोंको जन्म दे सकती है। उतावली वास्तवमें शीघ्रता नहीं, बल्कि कमजोर मनकी विश्रिप्तता होती है, जो आवेगमें भरकर उतावला बना देती है। इस श्लोकने यह बताया है कि हमें इस जल्दबाजी-रूपी मानसिक दुर्बलतासे बचना चाहिये। काफ़ी सोच-समझ-कर ही काम करनेका निर्णय करना ठीक रहता है। धैर्य धारण करना उत्तम है। धैर्यवान् मनुष्यके अन्तःकरणमें अत्यन्त शान्ति, भविष्यकी सुखद आशा और उदारताकी प्रबलता रहती है। वह कुदिनके फेरमें पड़कर घबराता नहीं, बल्कि उन दिनोंको हँसते हुए टालनेकी चेष्टा करता है। श्लोक-में बड़ी उपयोगी शिक्षा दी गयी है। मैं चाहता हूँ कि इसे लिखनेवालेका पता चल जाय, जिससे उसे राजोचित

सम्मान और इनाम दूँ। विद्वानोंका सम्मान राजाका प्रमुख कर्तव्य है। ऐसे विद्वानको तो राजकवि बनाना चाहिये।

(दूतका प्रवेश)

दूत-महाराज ! एक कवि आपसे मिलनेकी आज्ञा चाहते हैं। परदेशसे अपने काव्यके बलपर बहुत-सा धन और सम्मान कमाकर घर आये हैं। उनकी स्त्रीने एक हजारमें आपको एक श्लोक बेचा था, पर उसको सदा अपने पतिकी चिन्ता ही बनी रहती थी। आज उसके पति परदेशसे लौट आये हैं।

[भारविको लाता है]

राजा-(भारविसे) ओह ! तो वह श्लोक तुम्हारा ही लिखा हुआ है ?

भारवि-महाराज ! मैं बहुत दिनों बाद आज घर लौटा हूँ। घर आकर सस्ते मूल्यमें श्लोककी विक्रीका समाचार सुना। उस श्लोकको मेरी धर्मपत्नीने भूलसे बड़ा सस्ता बेच दिया है। महाराज ! मेरी धर्मपत्नी दारिद्र्यके दुःखसे पीड़ित होकर एक श्लोक आपके हाथ केवल एक सहस्र मुद्रामें ही बेच गयी। यह लीजिये अपने एक हजार रुपये। मेरा वह श्लोक मुझे वापिस कर दीजिये। इतना सस्ता नहीं बेचूँगा। कलाका आर्थिक मूल्य कौन जानता है ?

राजा-(श्लोकके स्वामीको पाकर अपार आनन्दसे उल्लसित हो उठते हैं।) भारवि ! आगे आओ ! मैं तुम्हें अपने हृदयसे लगाना चाहता हूँ। तुम्हारे श्लोकने दो-दो बार मेरे प्राण बचाये हैं। सचमुच, एक हजार रुपये इसका मूल्य कम है। मैं अब इसका सच्चा मूल्य एक लाख रुपये ही देता हूँ। इसमें बड़ी ही उपयोगी बात कही गयी है— 'सहसा विदधीत न क्रियाम्।' अधीरता मनुष्यकी क्षुद्रताका चिह्न है, सोच-समझकर ठंडे संतुलित मनसे काम करना व्यक्तिकी महानताका लक्षण है।

भारवि-महाराज ! मनु भगवान् ने धर्मके दस लक्षणोंकी चर्चा करते हुए मनुष्यका सबसे पहला धर्म 'धृति' अर्थात् धैर्य बतलाया है। सामने उपस्थित उत्तेजनात्मक परिस्थितिको भी यदि ठीक तरह समझनेकी कोशिश की जाय, तो वह मामूली-सी बात निकलती है। जिन छोटी-छोटी बातोंको लेकर लोग दुःखमें कष्टकातर और सुखमें हर्षोन्मत्त हो जाते हैं, वे वस्तुतः बहुत ही साधारण बातें होती हैं। हमारा उतावलापन एक ऐसी दुर्बलता है, जो छोटी-छोटी बातोंमें उत्तेजित करके हमारा मानसिक संतुलन बिगाड़ देती है। इस स्थितिसे बचना ही धैर्य है। मेरे श्लोकका मतलब यही है कि सदा हमारी विवेकशीलता स्थिर रहे।

राजा-और मैंने पाया है कि यह तथ्य जीवनको सुविकसित बनानेके लिये बड़ा आवश्यक है।

भारवि-यह तभी सम्भव है जब मनुष्य धैर्यवान् हो— अधीरतासे बचे। थोड़ी सफलताएँ, इच्छानुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होनेपर, सत्ता, अधिकार, सम्पत्ति मिलनेपर प्रायः लोग बड़े अहंकारी बन जाते हैं। सत्ता और धनका बाहुल्य हमारे विवेकको पङ्खु बना देता है। उन्हींकी ओर संकेत इस श्लोकमें है।

राजा-मैं यह एक लाख रुपया इस श्लोकका मूल्य देता हूँ। इसने मेरे प्राण बचाये हैं। अब मैं इसे पृथक् न होने दूँगा। (रुपया देता है) आजसे आप हमारे राजपण्डित हुए।

भारवि-जो आज्ञा महाराज !

... ..

[बारह वर्ष पूर्ण होनेपर महाकवि भारवि पत्नीको लेकर अपने माता-पिताके पास गये और अपने अपराधका प्रायश्चित्त करके, माता-पितासे क्षमा माँगकर, स्त्री-सहित राजधानीमें आकर राजपण्डितकी तरह रहने लगे।]

क्या न करो, क्या करो

देखो नहीं, करो मत चिन्तन, कहो न कभी 'पराये दोष'।
दूँढ़-दूँढ़कर देखो सद्गुण, करो सदा सबका परितोष ॥
सद्गुण-सद्व्यवहार दान कर, करो सभीका मानस शुद्ध।
पर न करो अभिमान तनिक भी, करो न कुछ भी धर्मविरुद्ध ॥

श्रीराम

(लेखक—श्रीकाशीनाथजी शर्मा; एम्० ए०, डिप० इन्० एड्०; साहित्यरत्न)

वेदके अनुसार भगवान् श्रीरामकी उपमामें श्रीराम ही हैं, दूसरा कोई नहीं। अगर यह कहें कि अरबों जुगनुओंके समान सूर्य हैं, तो सूर्यकी प्रशंसा नहीं, उनकी लघुता है। वेद भी उनके स्वरूपका वर्णन करनेमें असमर्थ है। इसीलिये वह 'नेति, नेति' कहता है। उनके प्रपञ्चातीत अचिन्त्य अनिर्वचनीय भगवत्स्वरूपको संसारमें उनको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता; अतः बुद्धि-भिन्नतानुसार लोग उन्हें परात्पर समग्र ब्रह्म, निर्गुण-ब्रह्म, विष्णुका अवतार, महामानव, महापुरुष, मर्यादा-संस्थापक, आत्माका रूप एवं आदर्श राजाके नामसे आभूषित करते हैं। भगवान् श्रीराम अंशी हैं, अंश हैं, अवतारी हैं और अवतार भी। साथ-ही-साथ वे सर्व, सर्वमय, सर्वगत और सर्वातीत भी हैं—

जाके बल विरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, इच्छामय एवं सच्चिदानन्दधनका शरीर न तो मायिक है, न पाञ्चभौतिक; न कर्मजनित है और न देह-देहीका भेद ही है उसमें। यह सत्य है कि इनका शरीर विकारोंसे रहित चिदानन्दमय है। भोलेनाथ पार्वतीसे कहते हैं—

उमा अवधवासी नर नारि कृतारथरूप।

ब्रह्म सच्चिदानन्दधन रघुनायक जहूँ भूप ॥

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थासे ही राक्षसोंके अत्याचारोंकी कथा सुननेको मिलती है। राक्षसोंके राजा रावणके अत्याचारसे पूरी पृथ्वी तिलमिला-सी गयी थी। साधु-संतोंकी तो बात ही दूसरी थी, स्वयं पृथ्वी उसके पाप-भारको सहन करनेमें असमर्थ थी। सम्पूर्ण देवताओंने भगवान्की स्तुति की—'हे सर्वव्यापी परमेश्वर ! इन विश्वद्रोहियोंका हनन करनेके लिये आप अवतार लें'—

त्वं गतिः परमो देव सर्वेषां नः परंतप ॥

वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।

तब उन्होंने अवतार लेने एवं राक्षसराज रावणको सपरिवार वध करनेकी बात कही। देखिये न अध्यात्म-रामायणके प्रकृतिसे परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दमय श्रीरामको—

रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि ।

देवताओंने जो स्तुति की थी—

यदा यदा नो दनुजा हि दुःखदा-

स्तदा तदा त्वं भुवि जन्मभागभवैः ।

अजोऽव्ययोऽपीश वरोऽपि सन्विभो

स्वभावमास्थाय निजं निजार्चितः ॥

यौवराज्याभिषेकका वातावरण सम्पूर्ण अयोध्यामें तरङ्गित हो रहा था। मन्थराकी मन्थराई कोमलहृदया कैकेयीपर चल गयी। राज्याभिषेकके बदले रामको वनवास मिला। रामने कैकेयीसे कहा—'यदि पिताकी आज्ञा हो तो मैं आगमें कूद सकता हूँ, तीव्र विष खा सकता हूँ। समुद्रमें गिर सकता हूँ। वे मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं। उनकी आज्ञा पानेपर मैं क्या नहीं कर सकता ? माँ ! राम कभी भी दो तरहकी बात नहीं करता'—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।

नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।

करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

(बा० रा० २।१८।२८-३०)

श्रीरामने दशरथसे कहा—'वरदायक नरेश ! वनवास-विषयक निश्चयको अब मैं बदल नहीं सकता। सरिताओंका खामी समुद्र अपनी मर्यादा त्यागकर क्षुब्ध नहीं होता। आपका वचन मिथ्या न हो, यही मेरी

अमिलाषा है।' भरतसे रामने कहा था—'चन्द्रमासे उसकी ज्योत्स्ना अलग हो जाय; हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादा खो दे; परंतु मैं किसी भी मूल्यपर पिताजीके वचनको भंग नहीं कर सकता।'।

राज्याभिषेकके बदले वनवासकी आज्ञा मिलनेपर भी श्रीरामकी स्वाभाविक प्रसन्नतामें उसी प्रकारसे कमी नहीं हुई, जिस प्रकारसे शरत्कालकी उदीप्त किरणोंवाले चन्द्रमाकी ज्योत्स्नामें।

तुलसीके राम सत्यं शिवं एवं सुन्दरं की धाराओंमें प्रवाहित हैं। रामायणके नायक राम हैं। खुले हृदयसे राज्य त्यागकर तापस-जीवन व्यतीत करनेके निमित्त वे वन चले जाते हैं। पिताकी आज्ञा जो ठहरी। ये भगवान् हैं। इनकी मधुर लीलाओंके चिन्तन एवं कीर्तनद्वारा ही भगवत्प्रेमकी झाँकी मिलती है। दुःख एवं अशान्तिकी भीषण ज्वालासे झुलसते संसारमें भगवत्कृपाकी आवश्यकता है। तुलसीके राम संसाररूपी भयंकर रोगको नष्ट करनेके लिये अश्विनीकुमारके समान हैं—

बिबिध बैद भव भीम रोग के।

रामचरित्ररूपी चिन्तामणि तो—

जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥
समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥

उनका चरित्र पूर्ण चाँदकी किरणोंकी तरह सभीको सुख देनेवाला है। भक्तिरूपी कुमुदिनी और चकोर चित्तके लिये हितकारी और महान् लाभदायक है। वाल्मीकिके राम महापुरुष हैं और हैं नरश्रेष्ठ सर्वगुण-सम्पन्न महान् आत्मा। तुलसीके राम सम्पूर्णतः ईश्वर हैं, मञ्जुल लोकरक्षक हैं और हैं परात्पर ब्रह्म। रामके ईश्वरत्व रूपका प्रतिपादन इनके काव्योंमें मिलता है। अहल्योद्धारके लिये भगवान् राम उससे अपने पावन पदका स्पर्शमात्र ही कराते हैं। यही है अपने आराध्यदेवके प्रति

तुलसीका भावपूर्ण दृष्टिकोण। शिव सतीसे हरि-अवतारके कारण बतलाते हैं—

जब जब होइ धरम कैहानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥
करहि अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहि बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

चिरन्तन वाग्धारामें अमर विचारधाराको संनिविष्ट कर श्रुतिसम्मत भगवान् रामका आदर्श चरित उन्होंने हमारे सामने रक्खा। इनके राम 'बिधि हरि संभु नचावन-हारे' हैं और हैं परब्रह्म। तुलसीके रामके नामद्वारा ही 'जिय-जरनि' शान्त होती है और—

'नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।' हो जाता है। रामकी भक्तिरूपी पवित्र गङ्गाकी धारामें डुबकियाँ लगानेमात्रसे ही पवित्रता आ जाती है। भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्रीके कर्णफूल 'रा' और 'म' हैं—लोक-कल्याणार्थ चन्द्रमा और सूर्य हैं। इनके इष्टदेव त्रिगुणात्मक हैं—सत्त्वका प्रतीक शील, रजका सौन्दर्य और तमका शक्ति है। राममें शरणागतवत्सलता, शील और उदारता अपनी चोटीपर है।

तुलसीने धनुर्वारी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामको अपनी वाणीका विषय बनाया और ऐसे रामको पा हिंदुत्वकी भावना सजग हो उठी। उनके रामने अत्याचारियों एवं पापियोंको नष्ट करनेके लिये 'भुज उठाइ पन कीन्हि'। वे राजा थे और देखें आदर्शोंसे भरे उनके राज्यको—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

इतना ही नहीं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा ॥

तुलसीके लिये 'रामका नाम' ही भवसागरको पार करनेमात्रकी नौका है; मा, बाप, गुरु और स्वामी है और है तुलसीके लिये तप, तीर्थ, मख, दान, नेम, उपवाससे भी बढ़कर। राम-नाम-मणिके प्रकाशमात्रद्वारा

ही अन्तर ब्रह्ममें एक अपूर्व ज्योति जगमगा उठती है । तुलसीके राम लेकरक्षक हैं और हैं सच्चिदानन्द । इन्होंने तड़पती मानवताकी समस्याओंको सुलझानेके लिये ही अवतार लिया है । शक्ति, शील एवं सौन्दर्यकी छलकती लोल लहरियोंमें चतुर्दिक्-भुवन रसाश्रवित हो आनन्दातिरेकमें 'सियाराममय' हो जाते हैं । इनके राम तो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशसे भी बड़े हैं ।

वनवास-गमनकी बात रामके सामने आती है । खुशीमें झूम उठते हैं, पर दुःख है उन्हें अपने पिताकी शोकमग्नावस्थाका । वे मझली माँसे कहते हैं—

थोरिहिं बात पितहि दुख भारी । होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥

और—

भा मोहि तैं कछु बड़ अपराधू ।

वनगमनवाली बात तो रामके लिये बहुत छोटी है । पिताज्ञापालनका अवसर पा वे अपनेको बहुत बड़ा भाग्यशाली समझने लगते हैं और अपनी मझली माँसे कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु वड़ भारी । जो पितु मातु बचन अनुगारी ॥

देखें न अयोध्यापुरीकी दशा—

गमनपर—

जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी ।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जियँ भामिनी ॥

कौसल्याने पूछा था—

‘को दिनकर कुल भयउ कृसानू ।’

श्रीराम कौसल्यासे कहते हैं—

‘पिता दीन्ह मोहि कानन राजू ।’

इनके राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं । धनुषयज्ञ है । धनुष तोड़नेके निमित्त विश्वामित्रने रामको आज्ञा दी—
‘हे राम ! उठो, शिवजीका धनुष तोड़ो’ और—

‘मेठहु तात जनक परितापा ।’

उनकी मर्यादाकी तलैया उस समय बँध जाती है जब—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा । हरषु बिषादु न कछु उर आवा ॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ । ठवनि जुवा मृगराजु लजाएँ ॥

और देखें—

गुर पद बंदि सहित अनुरागा । राम मुनिन्ह सन आयसु मागा ॥

परशुराम लक्ष्मणसे कोवित हैं । उस समय तुलसीके रामको देखें—

नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूधमुख करिअ न कोहू ॥

संसारमें कौन ऐसा व्यक्ति है जो शक्ति रहनेपर भी ऐसी प्रार्थना करेगा । तुलसीके राम भगवान् हैं, पर नरलीला दिखलाते हुए रामकी वियोगदशा भी देख लें । सीताहरणोपरान्त—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
घन घमंड नभ गरजत घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥

सूनी पर्णशालाको देख वनप्राङ्गणके वृक्षोंसे पूछते हैं—

अस्ति कच्चिरवया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीसे शंस सीतां शुभाननाम् ॥

इन पङ्क्तियोंके पढ़ते ही रामका दुःख अपना हो जाता है । अब देखें उनके बिलापको—

जौं जनतेउँ वन बंधु बिछोहू । पिता बचन मनतेउँ नहिँ ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा । होहिँ जाहिँ जग बारहिँ बारा ॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता । मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
निज जननी के एक कुमारा । तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥

सहोदर भ्राताका प्रेम कितना अधिक है । यह आदर्श संसारमें कहाँ मिलेगा ? यहाँ तो ‘सुत बित नारि’ को बार-बार पानेकी बात उन्होंने कही है और—

‘राम उठाइ अनुज उर लायउ ।’

रोते हैं—

जैहउँ अवध कौन मुहु लाई । नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥

जब कभी संसार अज्ञानताकी धारामें प्रवाहित होगा, तब उसे मोड़ देनेवाली होगी भगवान्की ये दशाएँ और उनका विलाप । हम रो पड़ते हैं । रहा-सहा साहस एकदम नष्ट हो जाता है, जब भगवान् कहते हैं—

सौपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी । सब बिधि सुखद परम हित जानी
उतरु काह द्रैहउँ तेहि जाई । उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन । स्वत सलिल राजिव दल लोचन

अब देखें रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतको—

‘तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी ।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी ॥

× × ×

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो ।

तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हित मेरो ॥

भगवान् राम और सीताका जीवनदर्शन

(लेखक—श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी)

‘भगवान् श्रीरामके उज्ज्वल चरित्रका आजके नवयुवकोंमें प्रचार होना अत्यन्त आवश्यक है । उनका जीवन-दर्शन समझनेका हम सभीको प्रयत्न करना चाहिये । यदि हमारे नवयुवक उनके जीवनचरित्रको ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे तो निश्चय ही उनके जीवनमें परिवर्तन आयेगा ।

‘इसी प्रकार सीताजीके चरित्रको यदि हमारी बहिनें ध्यानसे पढ़ेंगी तो उनके जीवनमें धार्मिकता आयेगी और धर्मरक्षार्थ कष्ट-सहनकी भावनाएँ जाग्रत होंगी ।’

इस प्रकारके विचार जैनमुनि श्रीविद्यानन्दजी महाराजने अपनी एक विशेष भेंटमें प्रकट किये । मुनिजी पर्याप्त समयसे भगवान् रामके जीवन-चरित्रको लेखबद्ध करनेका कार्य कर रहे हैं । उन्होंने अनेक भाषाओंके उस साहित्यका अध्ययन किया है, जिसमें भगवान् रामके जीवन-वृत्तान्तका वर्णन किया गया है । तमिल और कन्नड भाषासे भी इस प्रकारकी बहुत-सी सामग्री उन्होंने प्राप्त की है । उनका कहना है कि जैनपुराणोंमें भी रामकी कथाका वर्णन किया गया है । जैनमुनि सभी ग्रन्थोंकी उस सामग्रीका संग्रह कर रहे हैं, जो रामके उज्ज्वल जीवनसे सम्बन्ध रखती है ।

इस समयतक मुनिश्री अठारह प्रकारकी रामायणोंका अध्ययन कर चुके हैं ।

मुनिश्रीका कहना है कि रामने हमें जो सम्यक्-ज्ञानकी प्रेरणा की है, उसे हमें समझनेका यत्न करना चाहिये । अयोध्याका राज अपने भाई भरतके नामपर छोड़कर जब वे वनवासके लिये चले गये तो फिर सम्पूर्ण परिवार, गुरुजन और स्वयं भरतके समझाने और विनय करनेपर भी राज्य स्वीकार करनेको तैयार न हुए । राज्य छोड़नेपर भी वे भरतके प्रति अगाध प्रेम रखते रहे ।

इसी प्रकार भरतने भी रामके प्रति अपार भक्ति प्रकट की । उनकी अनुपस्थितिमें अयोध्यामें रहते हुए भी वे एक तपस्वीके रूपमें ही जीवन बिताते रहे और उनके हृदयमें यह अभिमान कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ कि वे अयोध्याके राजा हैं । राजा होते हुए भी तपस्वीका जीवन व्यतीत करना साधारण बात नहीं । राज्यके प्रलोभनसे तो बिरले ही बच पाते हैं ।

रावणके सम्बन्धमें मुनिश्रीने बताया कि तेलगू रामायणमें रावणको महाविद्वान् बताया गया है । उसमें एक स्थानपर आया है कि रावणने मरते समय

भगवान् रामकी प्रशंसा करते हुए कहा था—‘रामकी कीर्ति और मेरी अपकीर्ति सदा अमर रहेगी।’

रावणके प्रति रामके सम्मान प्रकट करनेकी घटनाका वर्णन करते हुए मुनिश्रीने बताया कि जब राम रावणके अन्तिम संस्कारकी व्यवस्था करा रहे थे, तब उन्होंने रावणको ‘भाई’ कहा। मन्दोदरी रामके मुखसे ‘भाई’ शब्द सुनकर बड़ी प्रभावित हुई। उसने रामको सम्बोधन करते हुए कहा—‘राम ! तुम्हारी माता, तुम्हारे पिता और तुम्हारा इक्ष्वाकु-वंश धन्य है।’

रामने अपने भाई लक्ष्मण और हनुमान्को रावणके अन्तिम संस्कारमें सम्मिलित होनेके लिये भेजकर जो उदारता और एक अन्य देशके राजाके प्रति सम्मान प्रकट किया, उसका मन्दोदरीके मनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मन्दोदरीके मनमें रामके प्रति जो कुछ द्वेष-भावना उत्पन्न हो गयी थी, वह सब समाप्त हो गयी।

सीताजीके पावन चरित्रका वर्णन करते हुए मुनिश्रीने कहा—‘सीताके समान धर्मात्मा, धैर्यशील और पति-सेविका होना दुर्लभ है। वनवासमें भी सीताने भगवान् रामकी सेवाको ही अपना मुख्य ध्येय बनाया। यदि सीता चाहतीं तो अपनी सासके पास राजमहलमें रह सकती थीं। सभीने इनको अयोध्यामें रहनेके लिये कहा था; परंतु सीता अपने पतिके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख माननेवाली आदर्शमयी नारी थीं।’ इस सम्बन्धमें मुनिश्रीने गाँवकी एक घटनाका वर्णन करते हुए बताया कि मैं एक बार एक किसानकी झोंपड़ीमें ठहरा था। रात्रिके समय वहीं विश्राम किया था। प्रातः जब मैं चलनेको तैयार हुआ तब किसानने भी अपने हल और बैलोंको सँभाला। चलते समय उसने अपने मुखसे ‘जय सियाराम’ शब्द बोला। मैं समझ गया कि वह व्यक्ति रामसे भी अधिक भक्ति सीताजीके प्रति रखता है। ‘जय सियाराम’में ‘सिया’ शब्द पहले

आया है। इससे विदित होता है कि रामके पावन चरित्रके समान सीताका भी वैसा ही पावन चरित्र था।

हनुमान्के सम्बन्धमें मुनिश्रीका कहना है कि तमिल भाषाकी रामायणमें उनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। रामके लिये हनुमान् परम स्वामिभक्तके रूपमें सदा सहायक रहे। उन्होंने अपने जीवनको संकटमें डालकर सीताकी खोज की। लंकामें जाकर सीताका पता चलानेको अन्य कोई व्यक्ति तैयार न था। यह हनुमान्जीका साहस था कि वे अकेले लंकामें गये और सीताकी खोज करनेमें सफल हुए। हनुमान्के हृदयमें रामके प्रति अगाध भक्ति थी।

मुनिश्री लक्ष्मणके भ्रातृ-प्रेमके बड़े प्रशंसक हैं, जिन्होंने बड़े भ्राताकी सेवाके लिये अयोध्याका राजमहल छोड़कर चौदह वर्षतक वनमें रहना पसंद किया।

माता कौसल्याके सम्बन्धमें मुनिश्रीका कहना है कि यदि वे न होतीं तो रामको कौन जन्म देता ? आज भी यदि माता कौसल्या-जैसी देवियाँ हों तो हमारे देशमें राम-राज्यकी स्थापना हो जाय। मुनिश्रीका कहना है कि उनमें क्रोधकी लेशमात्र भी भावना न थी। अपने पुत्रके वन-गमनके समय भी वे शान्त रहीं। रामके वन जानेपर उन्होंने भरतके प्रति अपने पुत्रके समान प्रेम किया।

मुनिश्री इसी प्रकारसे निषादकी भक्तिकी भी प्रशंसा करते हैं। उनका कहना है कि रामके जीवनकी यह भी एक विशेषता थी कि उन्होंने निषादको भी प्रेमसे गले लगाया और ऊँच-नीचका किसी प्रकारका भेदभाव प्रकट न किया।

मुनिश्रीका कहना है कि रामका जीवन-चरित्र अधिक-से-अधिक भाषाओंमें तैयार होना चाहिये। जिस प्रकार बाइबिल सैकड़ों भाषाओंमें छपती है, ऐसे ही रामका जीवन-चरित्र भी छपना चाहिये।

स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी विरलाका लोकोत्तर व्यक्तित्व

(लेखक-पं० श्रीदेवधरजी शर्मा)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णकी उक्ति है कि 'जहाँ-जहाँ विभूति, श्री और ओज-बल आदिका आत्यन्तिक उत्कर्ष दृष्टिगोचर हो, ऐसा समझना चाहिये कि वह सब मेरे विशिष्ट तेजके अंशसे ही उद्भूत हुआ है।' यों तो 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी, तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'—इन वचनोंके अनुसार सम्पूर्ण जीव-जगत् भगवान्का ही अंश है तथापि पूर्वोक्तिमें भगवान्का संकेत सामान्य प्राणियोंकी ओर न होकर उन विभूतियोंकी ओर है, जो विलक्षण एवं विशिष्ट वैभवशालिनी सत्ताओंसे सम्पन्न होती हैं।

स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी विरला भगवान्की ऐसी ही विशिष्ट विभूतियोंमें परिगणनीय एक महनीय महापुरुष थे। इस भूतलपर उनका अवतरण या शुभागमन किसी भगवदीय संकल्पकी पूर्तिद्वारा मानव-जगत्को उपकृत करनेके लिये ही हुआ था। सत्पुरुषोंका संरक्षण तथा दैवी विभूतियोंके नामसे समादृत सद्भावोंका प्रचार-प्रसार उनकी जीवन-चर्याका प्रमुख अङ्ग था।

विद्वानों तथा गुणवानोंका मान-संवर्द्धन एवं साधु-संतोंका समादर उनका स्वभाव था। वे कारक पुरुष थे और भगवान्की आज्ञासे कुछ विशिष्ट कार्योंका सम्पादन करनेके लिये ही इस भारत-वसुन्धरापर अवतीर्ण हुए थे।

स्वर्गीय श्रीविरलाजीको किसी स्कूल-कालेजमें शिक्षा पानेका अवसर नहीं मिला; किंतु उन्होंने सद्ग्रन्थोंके स्वाध्याय और सत्पुरुषोंके सत्संग-द्वारा मानव-जीवनकी सभी प्रवृत्तियोंका गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया था। श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत, संतवाणी, भक्ति-साहित्य एवं अध्यात्मदर्शन आदिका अनुशीलन करके जहाँ-जहाँ, जो-जो साररूपसे संग्रहणीय ज्ञान पड़ा, उसे उन्होंने जीवनमें उतारनेका सफल प्रयास किया। वे सम्पूर्ण हृदयसे ईश्वरपर विश्वास रखनेवाले थे। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी भावोंमें एक ही परम तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है, ऐसा मानकर वे समस्त आस्तिक विचारधाराओंका समानरूपसे समादर करते थे। उन्होंने गीताके उपदेशोंको विशेषरूपसे जीवनमें उतारा था। यदि हम उन्हें एक साथ ज्ञानयोगी, भक्तियोगी

और कर्मयोगी कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनके हृदयपर भगवान् बुद्धके 'निर्दोष बनने, तृष्णाक्षय करने और प्राणियोंके कल्याणमें रत रहने' आदि उपदेशोंका भी गहरा प्रभाव पड़ा था। इसलिये उनका सारा जीवन तप-तितिक्षा और परहित-परायणतामें व्यतीत हुआ।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' के अनुसार धर्म-सम्पादन-के लिये शरीरकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है और यह स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमोंके परिपालनसे ही सम्भव है। इस ओर स्वर्गीय श्रीविरलाजीका सदा ध्यान था। उनके आहार-विहारकी मात्रा अत्यन्त संतुलित और सीमित रही। उन्होंने शरीरको कभी स्थूल होने नहीं दिया। वे अपने पास आने-जानेवाले सुहृदोंको भी इसके लिये सतत सावधान करते रहते थे।

नरदेह सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ है; क्योंकि उन्नतिके लिये अपेक्षित सारे साधन इसमें उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि विधाताने अनेक शरीरोंकी रचना की, पर संतुष्ट नहीं हुए। मानव-देहका निर्माण कर लेनेपर ही उसमें उन्हें संतोष और सृष्टिकी पूर्णताका बोध हुआ। अव्यक्त परमात्माका पूर्णावतार भी मानव-देहको ग्रहण करके ही होता है; क्योंकि यही धर्मक्षेत्र और कर्मक्षेत्र है। धर्माचरणसे ही इसे सफल किया जा सकता है। इस भावनासे श्रीविरलाजी सदा सत्य-सदाचार और संयम-नियम आदिका पालन करनेमें रत रहते थे। वे पहले निर्गुण-निराकारवादी थे; फिर भगवान्के अवतारोंपर भी उनका विश्वास बढ़ गया। भगवान् साकाररूपमें प्रकट होकर भी अपने भक्तोंका दुःख दूर करते हैं, जगत्की रक्षा करते हैं, पृथ्वीका भार उतारते हैं, दुष्टोंका दमन एवं धर्मकी स्थापना करते हैं—इन सब बातोंपर अविचल विश्वास होनेसे ही उन्होंने देशके कोने-कोनेमें प्रत्येक प्रमुख स्थानपर बड़े-बड़े भव्य मन्दिरोंका निर्माण करवाया और उनमें सभी जातियों तथा धर्मोंके अनुयायियोंके प्रवेशकी व्यवस्था की। यात्रियोंको भगवद्दर्शनके साथ भजन-सत्संग प्राप्त होता रहे, इसका भी प्रबन्ध करवाया। इस दृष्टिसे बीसवीं शताब्दीके धार्मिक इतिहासमें उन्होंने इसका एक नूतन अध्याय जोड़ दिया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन

मन्दिरोंके निर्माणद्वारा श्रीविरलाजीको कितनी भगवत्कृपाकी अनुभूति हुई। वे 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' के अनुसार पूर्वजन्मकी अधूरी साधनाकी सम्पूर्तिके लिये ही एक पवित्र श्रीसम्पन्न कुलमें उत्पन्न हुए और इस जन्ममें मानव-जीवनकी पूर्णताका सम्पादन करके परमात्मधामको प्राप्त हो गये।

स्वर्गीय विरलाजी प्राचीन संस्कृतिके पुजारी होते हुए भी नवीन युगकी आवश्यकताके अनुसार उसके स्वरूपको परम उदार बनाये रखनेके पक्षपाती थे। संकीर्णतासे ऊपर उठकर अपने धर्मकी छत्रछायायें वे विशाल जगत्को शान्ति प्रदान करनेके लिये सदा इच्छुक रहते थे। सर्वजन-सेवाके उद्देश्यसे ही उन्होंने मन्दिरों, मठों, स्तम्भों, स्तूपों, धर्मशालाओं, व्यायामशालाओं, सभा-मण्डपों तथा चिकित्सालयों आदिका निर्माण करवाया। बहुत-सी शिक्षा-संस्थाओंको भी खोला, बनवाया और विशाल पैमानोंपर चलाकर देशके असंख्य तरुणोंको स्वावलम्बी एवं देशका सुयोग्य नागरिक बनाया। दीन, दुखी, दलित और उपेक्षित सभी उनकी कृपापूर्ण सेवाओंसे सनाथ हुए। साधु-संतोंको आदर और आश्रय मिला। अगणित छात्र उनकी सहायता-से लाभान्वित हुए। अनार्यों और विधवाओंको भी उनकी ओरसे संरक्षण एवं योगक्षेम प्राप्त हुए। इन्होंने पतितोंको उठाया, समाज-बहिष्कृतोंको भी समाजमें सादर स्थान दिया। वे असहायोंके सहायक, पीड़ितोंके त्राता तथा दीनोंके भ्राता बने। उन्होंने साहसपूर्वक आगे बढ़कर अछूतोंका उद्धार किया, अस्पृश्य एवं वृणित समझे जाने-वाले लोगोंको अन्य जनोंकी भाँति ही सामाजिक प्रतिष्ठा दी और दिलवायी। धर्मान्तरमें प्रविष्ट हिंदुओंको पुनः अपने समाजमें सादर लौट आनेके लिये द्वार खोल दिया और तदनुकूल विधान बनाया। शताब्दियों-से उपेक्षित, प्रताड़ित, असम्भ्य, अशिक्षित तथा वन्यजीवन बितानेवाले आदिवासी हिंदू वर्ग-विशेषको स्वधर्म, स्ववेष्ट और स्वदेशमें परिचित करवाकर उनमें निष्ठा एवं आस्थाके भाव जगाये। इन सबको सम्भ्य, शिक्षित तथा सुसंस्कृत बनानेके लिये अकूत धनराशि खर्च की।

धर्म, संस्कृति एवं समाजको समुन्नत तथा विकसित करनेके लिये श्रीविरलाजीने अनेक संस्थाओं और न्यासोंकी स्थापना की। देशकी अनेकानेक जनसेवक संस्थाओंको उत्तम प्रेरणा, धनदान तथा आवर्तक, आर्थिक अनुदान

देकर कार्यक्षेत्रमें आगे बढ़नेका अवसर दिया। चीन, जापान, वाली, जावा, काम्बोडिया, मारीशस और फिजी आदि देशों-द्वीपान्तरोंमें जहाँ-जहाँ भी हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृतिका अस्तित्व या अवशेष है, वहाँ-वहाँ अशोककी भाँति धार्मिक प्रचारका कार्य किया। यूरोप और अमेरिकाके हजारों जिज्ञासुओं तथा भारतके प्रति भ्रान्त धारणा रखनेवाले लोगोंको भारतके वास्तविक स्वरूपसे परिचित कराकर उनका समाधान करवाया और उनकी भ्रान्त धारणाओंको मिटाकर उन्हें भारतीय संस्कृतिका समाराधक एवं प्रशंसक बनाया।

श्रीविरलाजी यथासमय जप, ध्यान और उपासना अवश्य करते थे; किंतु 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' इस गीतोक्त धर्मोपदेशके अनुसार कर्तव्य-पालनको ही भगवान्की पूजा मानकर सतत कर्तव्यरत रहते थे। उन्होंने सनातनधर्मको अधिकाधिक परिष्कृत और उदात्त रूपमें लोगोंके समक्ष प्रस्तुत किया। उनके मस्तिष्कमें एक ऐसे सार्वभौम आर्य (हिंदू) धर्म एवं समाजकी परिकल्पना थी, जिसमें सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध—सभी वर्गों एवं सम्प्रदायोंका सुन्दर समावेश था। सबको एक झंडेके नीचे खड़ा करके भारत राष्ट्रको सशक्त एवं स्वाधीन बनाये रखनेका शिव-संकल्प उनके हृदयमें सतत जाग्रत रहता था। वे अपनी ईश्वरनिष्ठा तथा साधना-सम्बन्धी कार्य एवं जीवनवृत्तको कभी किसीके समक्ष प्रकट करने-की इच्छा नहीं रखते थे। आत्मगोपन उनका स्वभाव बन गया था। वे केवल व्यक्तिका ही नहीं, समाजका भी हित सोचते थे और व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर अपने आपमें स्वयं एक समाज बन गये थे। उनमें व्यक्ति-भावना दबकर समष्टि-भावना उभर आयी थी। समूचे राष्ट्रमें ही नहीं सारी वसुधामें उनकी कौटुम्बिक भावना थी। सम्पूर्ण विश्वको ही वे आर्योचित चारित्रसे अलंकृत देखना चाहते थे। यास्ककी व्याख्याके अनुसार वे 'आर्य'का अर्थ 'ईश्वरपुत्र' करते थे और आर्योंमें तदनु रूप सद्धर्म एवं सदाचारको प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। उनके जीवनपर अनेक महापुरुषोंका प्रभाव पड़ा था, जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी तथा महामना मालवीयजीका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। धर्मके सम्बन्धमें वे अन्धविश्वासी नहीं थे। शास्त्र और तर्क—दोनोंके समन्वयका आदर करते थे। उनका विश्वास था कि

कालभेदसे धर्मके बाह्य कार्यकलापमें परिवर्तन सम्भव होता है। वे राष्ट्रमें नूतन जागरण और चरित्रबलका विकास देखना चाहते थे। मोहमुक्त महामनस्वी थे। ईर्ष्या और द्वेष उन्हें छू नहीं सके थे। उनका विवेक और वैराग्य सदा जाग्रत रहा। वे क्षुद्र स्वार्थसे ऊपर उठे हुए परमार्थनिष्ठ लोकसंग्रही महापुरुष थे। उनकी व्यापक समाजनिष्ठा और देशभक्ति अनुपम थी। उनकी बुद्धि स्थिर थी। कैसी ही परिस्थिति क्यों न आये, वे कभी विचलित नहीं होते थे। वे विशाल वैभवमें रहते हुए भी उसमें अनासक्त थे। विरलाभवनके

जिस कक्षमें वे रहते थे, उसका किराया प्रतिमास दे दिया करते थे। उनका कोई निजी आवास नहीं था। इस दृष्टिसे देखा जाय तो वे सच्चे अर्थमें 'अनिकेत' महात्मा थे। शुचिता, दक्षता, व्यथाशून्यता, उदासीनता और श्रद्धा आदि सद्गुण उनके सहज स्वभाव बन गये थे।

इस प्रकार स्वर्गीय श्रीजुगलकिशोरजी विरलाभजैसे महापुरुष ही अपने आदेशोंसे लोकके लिये पथ-प्रदीप बन जाते हैं, उनके द्वितीय पुण्यदिवसके पावन पर्वपर उन्हें हमारा शत-शत वन्दन और नमन।

खान-पानकी पवित्रतापर स्वामी श्रीविवेकानन्दके विचार

(लेखक—श्रीजयदयालजी ढालमिया)

२ अप्रैल १९६९ को लोकसभामें जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके विश्व-हिन्दू-धर्मसम्मेलन, पटनामें दिये गये भाषणकी आलोचना करते समय किन्हीं एक सदस्य महोदयने कहा था—'उन्होंने (श्रीशंकराचार्यजीने) शास्त्रोंका विवरण दिया है, मैं भी यहाँपर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्दजीको कोट (quote) कर सकता हूँ। उन्होंने कहा है कि ऐसा किसी भी शास्त्रमें नहीं है। इसलिये जो कोई भी ऐसी बातें कहते हैं, उनके अपने मनमाने बनाये हुए शास्त्र होंगे।'

स्वामी विवेकानन्दजी महाराजने खान-पानके सम्बन्धमें अपने विचार अपनी 'प्रेमयोग' नामक पुस्तकमें दिये हैं। उन्होंने कहा है—

'हमें खाने-पीनेकी चीजोंके सम्बन्धमें श्रीरामानुजाचार्यके आदर्शके अनुसार सावधानी रखनी चाहिये।'

(श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुरद्वारा प्रकाशित, प्रष्ट संस्करण, पृष्ठ ९, पंक्ति २ से ४)

श्रीरामानुजाचार्यके आदर्शका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

१. 'प्रथम तो जाति-दोष अर्थात् आहारके स्वाभाविक गुण या किस्मकी ओर ध्यान देना चाहिये। सभी उत्तेजक वस्तुओंका—उदाहरणार्थ मांस आदिका परित्याग करना चाहिये; क्योंकि यह स्वभावतः ही अपवित्र वस्तु है। दूसरेका प्राण लेकर ही हमें मांसकी प्राप्ति होती है। हम तो

क्षणमात्रके लिये स्वाद-सुख पाते हैं; पर उधर दूसरे जीवधारीको हमें यह क्षणिक स्वाद-सुख देनेके लिये सदाके लिये अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ता है। इतना ही नहीं, वरं हम दूसरे मनुष्योंका भी नैतिक अधःपतन करते हैं।' (उसी पुस्तकका पृष्ठ ४, पंक्तियाँ ५ से १३)

२. भोजनके सम्बन्धमें दूसरी बात है—आश्रय-दोष। यह पाश्चात्योंके लिये और भी जटिल बात है। आश्रयका अर्थ है वह व्यक्ति, जिसके पाससे भोजन मिला। यह हिंदुओंका एक रहस्यमय सिद्धान्त है। इसके पीछे यह तर्क है कि प्रत्येक मनुष्यका अपना एक वातावरण (aura) होता है और जिस किसी वस्तुको वह छूता है, उस वस्तुके साथ मानो उस मनुष्यकी प्रकृति या आचरणका कुछ अंश, कुछ प्रभाव रह जाता है। जैसे प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे सूक्ष्म परमाणु (affluvia) निकला करते हैं, उसी तरह उसके आचरण या भाव भी उसके बाहर निकलते रहते हैं और जब कभी वह किसी वस्तुको छूता है तो उस वस्तुमें वे लग जाते हैं। अतः हमें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि पकाते समय हमारे भोजनको किसने स्पर्श किया? किसी दुष्ट-प्रकृति या दुराचारी मनुष्यने उस भोजनको स्पर्श तो नहीं किया।' (पृष्ठ ५, पंक्तियाँ ८ से २१)

३. तीसरी बात है निमित्त-दोष। यह समझनेमें बहुत सरल है। मैल और धूल इत्यादि भोजनमें न हों। ऐसा न

हो कि बाजारसे खाद्य पदार्थ ले आये और उन्हें बिना धोये ही थालीमें खानेके लिये परोस दिया। उनमें संसारभरका कूड़ा-ककट और धूल भरी हुई है। मुखकी लार, थूक इत्यादि वस्तुओंसे हमें परहेज करना चाहिये। जब परमात्माने हमें चीजोंको धोनेके लिये यथेष्ट जल दे रक्खा है, तो हमारी ओठोंको छूनेकी और थूकद्वारा हर एक चीजको स्पर्श करनेकी आदत कैसी गन्दी और भयानक है। Mucous membrane अर्थात् द्रवोत्पादक या श्लैष्मिक झिल्ली हमारे शरीरका एक बड़ा नाजुक भाग है और इससे उत्पन्न लार इत्यादिके द्वारा अनिष्ट प्रभावोंका संक्रमण हो जाना बहुत ही सहज है। अतः इसका स्पर्श दूषित ही नहीं, भयानक भी है। इसके अतिरिक्त, किसी वस्तुका एक अंश यदि किसी दूसरेने खाकर छोड़ दिया हो तो उसे भी नहीं खाना चाहिये— जैसे किसीने एक सेबका टुकड़ा काटकर स्वयं खा लिया और शेष किसी दूसरेको दे दिया। आहारमें इन वर्जित बातोंका त्याग कर देनेसे आहारकी शुद्धि होती है। आहारकी शुद्धिसे मनःशुद्धि और मनःशुद्धिसे परमात्माका सतत और निरन्तर स्मरण होता है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।

(छान्दोग्योपनिषद्, ७।२६।२)

(उसी पुस्तकका पृष्ठ ६, पंक्तियाँ १ से १९)

स्वामी विवेकानन्दजीकी उपर्युक्त विचारधाराओंके साथ

आधुनिक प्रगतिशील(?) समाजके लोगोंके विचारोंका कहाँतक मेल खाता है, जो चाहे जिसके हाथकी बनायी हुई चाहे जिस वस्तुको न खानेवालोंको 'दकियानूसी' कहते हैं और जो रेस्टोरेण्ट, होटल तथा बाजारकी दूकानोंकी वस्तुएँ, एक-दूसरेकी जूँठी वस्तुएँ खानेमें ही अपना गौरव और देशका, राष्ट्रका तथा समाजका कल्याण समझते हैं !

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीके यजुर्वेद-भाष्यसे अध्याय ३० कई मन्त्रोंकी व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि कई प्रकारके मनुष्योंको दूर बसावें और उनसे संसर्ग न रक्खें। उनके 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थमें भी बहुत स्पष्ट लिखा है कि चाण्डाल, भंगी आदिके हाथका छुआ न खायें।

इनको मनमाने शास्त्र कहनेवाले लोग वैसा कह भी सकते हैं; क्योंकि 'सत्यार्थप्रकाश' भी तो स्वामी दयानन्दजीका अपना बनाया हुआ शास्त्र है ही। पर मूल वेदको तो परमात्माका बनाया हुआ सभी लोग स्वीकार करते हैं। वेदके भाष्य भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं। इसलिये जो एक भाष्यको न मानकर अपने मनमाने भाष्यकी रचना करें, वे दूसरोंके भाष्यको भी मनमाना शास्त्र कह तो सकते ही हैं। ऐसा कहनेमें कोई कानूनी बाधा तो है नहीं। वे यह भी कहते हैं कि हम तो ऐसे वेदको भी नहीं मानते। हम तो स्वेच्छाचारिता ही मानेंगे। स्वेच्छाचारिताका परिणाम आज स्पष्ट दीख रहा है और कुछ समयके बाद विशेष स्पष्ट हो जायगा।

शुद्ध आहारकी महिमा

मांस, मद्य, अंडे, अशुचि, पापार्जित, उच्छिष्ट ।
अघस्पर्शित, दुर्गन्धयुत, वर्धक व्याधि-अरिष्ट ॥
इन सबका कर त्याग नित, करो शुद्ध आहार ।
अर्पण कर प्रभुको प्रथम, मनमें भर सत्कार ॥
होगा शुद्धाहार तो, मन भी होगा शुद्ध ।
मनकी शुद्धि बनायगी, जीवनको परिशुद्ध ॥
जीवनकी परिशुद्धिमें, होंगे शुचि सत्कर्म ।
उनसे होगा मुक्तिप्रद विकसित मानव-धर्म ॥

(१)

अपनी बात

प्रिय भाई !

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिल गया था । उत्तर देरसे जा रहा है । क्षमा कीजियेगा । आपने पत्रमें कई बातें पूछी हैं, उनमेंसे कुछका उत्तर नीचे लिख रहा हूँ । शेषका उत्तर कभी मिलनेपर दिया जा सकता है; क्योंकि वे सभी सर्वथा व्यक्तिगत बातें हैं । आपके इच्छानुसार यह उत्तर-पत्र 'कल्याण'में प्रकाशित करनेका विचार है ।

...की पारमार्थिक स्थिति क्या है, इसे मैं नहीं जानता । दूसरे किसीकी भी वास्तविक आभ्यन्तर स्थितिको यथार्थमें जाननेकी शक्ति मुझमें नहीं है । बाह्य आचरणों-व्यवहारोंसे अनुमान लगाया जा सकता है । यह गलत भी हो सकता है, सही भी । और ऐसा अनुमान आप भी लगा सकते हैं । असलमें यह 'स्वसंवेद्य' विषय है, दूसरेके जाननेका नहीं । हमको तो इतना ही देखना है कि उनके संग तथा उनके आचरणोंके अनुकरणसे हमारे जीवनमें दैवीसम्पत्तिके गुण बढ़ रहे हैं या नहीं, यदि बढ़ रहे हैं तो हमारे लिये वे महात्मा ही हैं ।

जहाँतक मेरी समझ है—गुरु या किसी भी गुरुजनकी वह आज्ञा नहीं माननी चाहिये, जिसके माननेपर परिणाममें उनका भी अकल्याण होनेकी सम्भावना हो । जो पुरुष किसी भी हेतुसे प्रत्यक्ष पापाचरणकी आज्ञा देता है, उसका तो त्याग ही श्रेयस्कर है ।

मेरी समझसे सभी शुद्ध आध्यात्मिक सम्प्रदायोंके आचार्य समादरणीय हैं । वे जिस मार्गसे लक्ष्यतक पहुँचे हैं, उसी अनुभूत मार्गका उपदेश करते हैं । मार्ग अनेक तथा विभिन्न होनेके कारण उपदेशमें भी भिन्नता रहेगी ही । अतएव किसीको भी नीचा न मानकर, किसीकी भी अवज्ञा न कर, सबका मनसे समादर करते हुए अपने आचार्यके द्वारा उपदिष्ट तथा अपने द्वारा स्वीकृत मार्गपर ही तत्परतासे आगे बढ़ते रहना चाहिये ।

मुझे जो 'संत' या 'प्रेमी भक्त' बतलाते हैं, यह उनकी अपनी मान्यता हो सकती है, मुझे तो अपने जीवनमें संतके या प्रेमी भक्तके गुणों-लक्षणोंका अधिकांशमें अभाव ही दीखता है । इतना ही नहीं, मुझमें सचमुच ऐसी-ऐसी दुर्बलताएँ भरी हैं, जिन्हें मैं जानता हूँ और जो संत तथा प्रेमीभक्तके नामको सर्वथा अपवित्र करनेवाली

हैं । समय-समयपर वे दुर्बलताएँ नग्नरूपसे सामने भी आ जाती हैं । अतः मैं यह कैसे स्वीकार करूँ और कैसे आपको यह आश्वासन दूँ कि मेरे सङ्ग या मेरे अनुग्रहसे कोई संत या प्रेमी भक्त बन सकता है । ऐसा करना अपने-आपको तथा दूसरोंको धोखा देना है ।

यह भी बिल्कुल गलत है कि मैं किसी दूसरेकी बीमारी लेकर उसे रोगमुक्त कर देता हूँ या किसीको अपनी आयु देकर उसको मृत्युसे बचा लेता हूँ । न तो मैंने कभी ऐसा माना है, न अपनेमें ऐसी कोई शक्ति ही देखता हूँ । और जब शक्ति ही नहीं, तब मैंने किसीका रोग लिया हो या किसीको मृत्युसे बचाया हो—यह प्रश्न ही नहीं उठता । यह अवश्य है कि मैं सभीको नीरोग तथा सुखसम्पन्न दीर्घजीवी देखना चाहता हूँ; पर मेरे चाहनेसे क्या होता है । होता वही है, जो भगवान्‌के मङ्गल विधानके अनुसार होना है ।

हाँ, यह सत्य है कि मैं भगवदाराधन तथा देवाराधनमें विश्वास करता हूँ और यह भी मेरा विश्वास है कि समुचित आराधन होनेपर नवीन प्रारब्धका निर्माण होकर नवीन फल भी मिल सकता है । मैं आजकल, अपने लिये तो नहीं, पर दूसरोंके लिये ऐसे सकाम आराधन-अनुष्ठान करानेकी सम्मति देता—और करवाता भी हूँ । उनसे फल होता है, यह भी मेरा अनुभव है । पर यह मैं उसी रूपमें करवाता हूँ, जिस रूपमें विघ्न-निवारण तथा अभीष्टसिद्धिके लिये रोगी दवा लेते हैं, व्यापारी व्यापार करते हैं तथा अन्यान्य भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य किया करते हैं । अभीष्टसिद्धिके अन्यान्य कार्योंकी अपेक्षा मैं, सात्त्विक अनुष्ठान-आराधन-को उत्तम मानता हूँ । मेरी मान्यता है कि ठीक-ठीक श्रद्धा-विधिसे पूरा अनुष्ठान होनेपर इसमें सफलता भी मिलती है । इसमें भगवान्‌के वचन प्रमाण हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

(गीता ४ । १२)

‘जो लोग कर्मोंमें सिद्धिकी इच्छा रखकर यहाँ देवताओंका यजन करते हैं, उनको इस मनुष्यलोकमें शीघ्र ही कर्मजनित सिद्धि—सफलता मिलती है ।’

पर यह उन लोगोंके लिये है जो भगवान्‌के तत्त्व-स्वरूप-स्वभावको पूरा नहीं जानते । जो जानते हैं, वे सकाम

पुरुष भी सकाम सिद्धिके लिये किसी अन्यकी उपासना न करके एकमात्र साक्षात् भगवान्की ही उपासना करते हैं; क्योंकि दूसरे देवताओंकी उपासनाका फल भी भगवान्के विधानसे ही मिलता है और भगवान्की सकाम उपासना करनेवालेको अन्तमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—भगवान् कहते हैं—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

(गीता ७।२२-२३)

‘वह सकामी पुरुष श्रद्धाके साथ उस (अपने इष्ट-) देवताके आराधनका प्रयास करता है और उस देवतासे भी उन इच्छित भोगोंको अवश्य प्राप्त करता है, जिनका मेरे (भगवान्के) द्वारा विधान किया होता है। पर (मुझको छोड़कर किसी दूसरेको मुझसे पृथक् मानकर) आराधना करनेवाले अल्पबुद्धिके लोगोंको जो कर्मफल मिलता है, वह विनाशी ही मिलता है, और वे (अधिक-से-अधिक) उन (देवताओं) के लोकोंको प्राप्त होते हैं। पर मेरी आराधना करनेवाले मेरे भक्त तो अन्तमें मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होते हैं।’

यह भोगाकाङ्क्षी सकाम उपासकोंकी बात है।

जो विश्वास करके भगवान्को ही एकमात्र शरण्य मानकर अन्याश्रयोंको सर्वथा छोड़कर भगवान्के शरणागत हो चुके हैं, उनकी देख-रेख स्वयं भगवान् करते हैं, उनके योगक्षेमके सारे भारको भगवान् स्वयं वहन करते हैं। विघ्ननाश तथा अभीष्टसिद्धिकी चिन्ता उनको नहीं रहती। वे तो भगवान्के शरण होकर निश्चिन्त तथा निर्भय बने हुए सहज ही भगवान्के अनुकूल आचरण तथा उनका निष्काम भजन करते रहते हैं।

इनसे भी श्रेष्ठ वे भगवान्के प्रेमी महानुभाव हैं—जो अपना पूर्ण समर्पण करके अपने प्रियतम भगवान्के सुखके सहज साधन बने होते हैं। प्रियतम अपने इच्छानुसार उन्हें चाहे जब, चाहे जैसे, स्वच्छन्द रूपसे बरतें, वे सदा प्रियतमका आह्लाद-उल्लासपूर्ण सुखचन्द्र देख-देखकर अमित सुखका आस्वादन करते रहते हैं। किसी स्थितिविशेषसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

मेरी साधना तथा अनुभूतिके सम्बन्धमें ऐसी कोई कहने-बताने योग्य महत्वकी बात ही नहीं है, जिसको मैं बता सकूँ। इतना अवश्य है कि मुझपर सब ओरसे

सदा सर्वत्र भगवान्की कल्याणमयी कृपासुधाकी वर्षा अनवरत हो रही है, भगवत्कृपासे ही मुझे इसके दर्शन होते हैं। पर उनकी यह कृपा प्राणिमात्रपर ही है। जो भी भगवत्कृपासे इसको विश्वासपूर्वक मान ले, उसीको इसके दर्शन हो सकते हैं—

‘सुहृदं सर्वभूतानाम् ।’

गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित सत्साहित्यके प्रचारके लिये आपने मेरी प्रशंसा की, सो यह भी आपकी अपनी मान्यतामात्र है। गीताप्रेसकी स्थापना करनेवाले हैं—मेरे परमश्रद्धेय भगवत्प्राप्त महापुरुष श्रीजयदयालजी गोयन्दका। वे ही प्रेरक हैं, वे ही इस संस्थाके मूलधार तथा आत्मा हैं। मुझको तो उन्होंने अपने स्नेह-वात्सल्यपूर्ण बन्धनसे इसके साथ बाँध रक्खा है। वे ऐसा न करते तो, मैं किसी राजनीतिक या सामाजिक क्षेत्रका कोई विशेष रागद्वेषयुक्त प्राणी होता। मैंने कुछ भी किया नहीं है। मुझको तो बलात्कारसे निमित्त बनाया गया है, यह कृपाकी ही महिमा है। उनके अभावमें तथा उनका अनन्य अनुकरण करनेवाले गीताप्रेसके सर्वस्व श्रीचनश्यामदासजी जालानके अभावमें आज गीताप्रेसकी नौका उतनी सुरक्षित नहीं रही है।—भगवान् सबको सद्बुद्धि दें और उनकी इच्छा हो तो श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके द्वारा लगाये तथा श्रीचनश्यामदासजीके द्वारा सींचे हुए गीताप्रेसरूपी इस पल्लवित-पुष्पित, फलित वृक्षको सुदृढ़ तथा अध्यात्मके और भी मधुर सुधा-फल देनेवाला बनावें। शेष भगवत्कृपा। आपका—

(२)

संकुचित तथा सीमित स्वार्थ ही विनाशका मूल है

प्रिय महोदय ! प्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि आजकल जो सर्वत्र लड़ाई-झगड़े, मार-पीट, हत्या-खून, चोरी-डकैती, तोड़-फोड़, बेईमानी—नकली वस्तुओंका असली नामपर प्रसार आदि अपराध असीम रूपसे बढ़ रहे हैं—इसका कारण अज्ञान तो है ही और विशेषरूपसे है—अज्ञानके कारण उत्पन्न हुई ‘स्व’की अत्यन्त सीमित स्थिति। ‘स्व’ जितना ही विस्तृत होता है, उतना ही ‘स्वार्थ’ पवित्र तथा सर्वकल्याणकारी होता है। जैसे, यदि अपने-आपको शरीर न मानकर—उसे आत्मा समझे और वही एक आत्मा सबमें है—ऐस माने, जो सत्य है, तो सभीका हित ही अपना हित होगा, सबका सुख ही अपना सुख होगा—इसी पवित्र ‘स्वार्थ’की सिद्धिके लिये अर्थात् सबके हित-सुखको दृष्टिमें रखकर ही हम सब कार्य

करेंगे। हमारे शरीरके सिरसे पैरतक सारे ही अङ्ग हम हैं, हमारा 'स्व' सबमें समान है, इसलिये किसी भी अङ्गको चोट न लगे, सबको सुख हो—यह हमारा 'स्वार्थ' होता है। इसी प्रकार जब विश्वके समस्त चराचर प्राणि-पदार्थोंमें 'स्व'की अनुभूति होती है, तब सबका स्वार्थ ही अपना स्वार्थ होता है, उसके द्वारा फिर किसीका भी बुरा कभी नहीं होता; क्योंकि उससे उसका अपना ही बुरा होता है। यही 'स्व' जब संकुचित होकर मानवमें आकर सीमित हो जाता है, तब मानवका हित-सुख, किसी देशमें आता है तो देशका हित-सुख, किसी मत-वादमें आता है तो मत-वादका हित-सुख, किसी जातिमें आता है तो जातिका हित-सुख, कुटुम्बमें आता है तो कुटुम्बका हित-सुख और अत्यन्त संकुचित होकर—अत्यन्त सीमित होकर जब एक व्यक्तिमात्रमें आ जाता है तब उसका स्वार्थ केवल अपना—व्यक्तिका सुख-हित ही होता है। फिर वह दूसरेका विनाश करके भी अपने स्वार्थका साधन करना चाहता है। उसके हरेक कार्यका—चाहे फिर उसका नाम 'विश्वहित' हो, 'जन-हित' हो, 'देश-सेवा' हो, 'धर्मरक्षण' हो, 'पाटीकी मान-रक्षा' हो—एकमात्र लक्ष्य रहता है—केवल अपना—व्यक्तिका ही सुख-हित। उसका स्वार्थ किसीके भी विनाशकी परवा न करके, वरं विनाश-साधन करके भी अपना सुख-हित सम्पादन करता है और जब यह संकुचित—सीमित स्वार्थ जगत्के अधिकांश मनुष्योंमें छा जाता है तब स्वाभाविक ही सर्वत्र लड़ाई-झगड़े, मार-पीट, हत्या-हिंसा, चोरी-डकैती, बेईमानी-धोखेबाजी, दम्भ-पाखण्ड बढ़ते हैं। आज जगत्में यही हो रहा है !

बड़े दुःखकी बात तो यह है—समस्त विश्व-चराचरमें एक ईश्वर या एक आत्माके सिद्धान्तका अनुभव, शिक्षण, प्रचार करनेवाला भारतवर्ष आज बड़ी तेजीसे इस सीमित—संकुचित 'नीच स्वार्थ' की हेय नीतिको अपना रहा है ! यह घोर पतनका सूचक है। जबतक हम सर्वत्र, सबमें एक भगवान् या एक आत्माका अनुभव नहीं करेंगे, जबतक हमारा 'स्व' सीमित रहेगा, और सीमित 'स्व'का स्वार्थ भी सीमित होगा। जबतक हम 'विनाश'की ओर ही जायेंगे, फिर चाहे विकासके नामपर ही। कितनी ही भौतिक उन्नति हो, कितना ही विज्ञानका प्रशंसनीय आविष्कार हो, हम विज्ञान-बलसे किसी भी लोकमें पहुँच जायँ—होगा विनाश ही, आत्मिक पतन ही। शेष भगवत्कृपा। आपका—

(३)

पत्नी-पतिका व्यवहार कैसा हो ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आपने अपने घरकी हालत लिखी तो आजकल प्रायः अधिकांश घरोंमें ऐसी ही कम-ब्यादा हालत है। जहाँ पाँच-दस आदमियोंका सम्मिलित घर होता है, वहाँ पर-मत-सहिष्णु तथा पर-हित-तत्पर होनेपर ही शान्तिपूर्वक काम चलता है। सबके विचार या मत एक-से नहीं, सबकी हितकी दृष्टि एक-सी नहीं, तब मतभेद होगा ही—वहाँ यदि हम कुछ उसकी मानेंगे, वह कुछ हमारी मानेगा, तभी काम चलेगा। नहीं तो अशान्ति, कलह, संघर्ष और परिणाममें दुःख होगा ही। आप लिखते हैं—“आपकी पत्नी वैसे बड़ी धर्मभीरु है, किसीके साथ झगड़ा नहीं करना चाहती। पर आपकी हरेक बातको वह नहीं मानती, कभी-कभी विरोध भी कर देती है। उस समय आपको गुस्सा आ जाता है, आप उसके प्रति कटु शब्द बकने लगते हैं, किसी-किसी दिन मार भी देते हैं। वह बदलेमें कुछ कहती करती नहीं। रोती है और कभी-कभी भोजन नहीं करती। इससे आपको और भी गुस्सा आता है और आप अत्यन्त दुखी हो जाते हैं तथा मानने लगते हैं कि ऐसा विवाह क्यों हुआ ?” ये आपके ही शब्द हैं।

अब आप सोचिये—सब बातोंमें आप अपनी पत्नीके मतसे सहमत नहीं हैं, उसकी सब बात नहीं मानते और विरोधभावसे नहीं, सचमुच ही आप उसीमें लाभ समझते हैं। तब आपको यह क्यों मानना चाहिये कि दूसरे सब या आपकी पत्नी अपनी दृष्टिसे लाभ समझकर आपके मतसे सहमत नहीं होती और आपकी सब बात नहीं मानती। और जब ऐसी बात है, तब आप उसे अपनी बात मनवानेके लिये बाध्य क्यों करते हैं ? न माननेपर कटु शब्द क्यों बकते हैं ? और अपने माँ-बापके आश्रयको छोड़कर आपके आश्रयमें आयी हुई निरीह असहाय अबलापर हाथ उठानेका जघन्य पाप क्यों करते हैं ? आप उसकी बात नहीं मानते, तब वह बेचारी मन-ही-मन रोकर रह जाती है। खाती-पीती नहीं है। पर आपको तो कुछ भी नहीं कहती, आपकी सेवा-शुश्रूषामें भी कमी नहीं करती। सब सह लेती है। और आप असहिष्णु होकर अपने-आपसे बाहर हो जाते हैं और असहाय पत्नीपर प्रहार करके अपनी अमानवताका परिचय देते हैं। असहाय अबलापर अत्याचार करना सर्वथा अमानवता नहीं तो और क्या है ?

यह सत्य है कि हमारी पवित्र संस्कृतिके अनुसार पत्नीके लिये अपने पतिको परमेश्वर मानकर उसकी सेवा-पूजा करना, अपने सुखका त्याग करके उसके सुख-हितका सम्पादन करना, उसकी आज्ञाका अनुसरण करना परम धर्म है, इसीके द्वारा ईश्वराकार वृत्ति पाकर वह परम शान्तिको तथा भगवान्‌को प्राप्त कर सकती है; पर यह उसका पालनीय धर्म है। पति अपनेको परमेश्वर मानकर पत्नीको— (सम्माननीया, प्रेमकी पात्री, सब प्रकारसे सुख-स्वामित्वकी अधिकारिणी, गृहलक्ष्मी तथा गृहसम्राज्ञीकी) अपनी दासी माने और अपनी अच्छी तथा बुरी-से-बुरी वासना एवं इच्छाको उससे पूर्ण कराना चाहे तो वह निश्चय ही पाप करता है।

हिंदू-सनातनधर्मके आदिस्मृतिकार भगवान् मनु-महाराजके निम्नलिखित शब्दोंपर पुरुषमात्रको ध्यान देना चाहिये—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैरैस्तथा ।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धन्ते तद्धि सर्वदा ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।

तानि कृत्याहृतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकाभैर्नैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३।५५-६०)

‘पिता, भ्राता, पति तथा देवरको, जो अपना विशेष कल्याण चाहते हों, उचित है कि वे स्त्रियोंका पूजन-मान करें और उन्हें वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित रखें। जहाँ स्त्रियोंका पूजन-सम्मान होता है, वहाँ सम्पूर्ण देवता प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं। जहाँ उनका पूजन-मान नहीं होता, वहाँ सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्फल होती हैं। जिस कुलमें भगिनी, पत्नी, कन्या, पुत्रवधू और माता आदि स्त्रियाँ दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जहाँ वे दुखी नहीं होतीं, वह कुल सदा वृद्धिको प्राप्त होता है। स्त्रियाँ उचित बर्ताव न मिलनेके कारण जिन घरोंको शाप दे देती

हैं, वे कृत्याके सताये हुएकी भाँति सब ओरसे नष्ट हो जाते हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषोंको चाहिये कि वे वस्त्र, आभूषण और भोजनादि प्रदान कर उनका सदा समादर करें। प्रत्येक शुभकर्म और उत्सवोंपर उनका भली-भाँति पूजन-मान करें। जिस कुलमें पत्नी पतिसे संतुष्ट है और पतिसे पत्नीको संतोष है, वहाँ सदा कल्याण होता है—यह सुनिश्चित है।’

इसी प्रकार पत्नीको भी चाहिये कि वह सर्वथा पतिके अनुकूल रहकर उसकी धर्मसे अविरुद्ध प्रत्येक आज्ञाका ही नहीं, रुचिका भी पालन करे। स्वतन्त्र—उच्छृङ्खल होकर यथेच्छाचार न करे। जहाँ-तहाँ न भटके, इधर-उधर खेल-तमाशोंमें तथा बाजारोंमें न फिरे। नाच-डांस आदि न करे। परपुरुषोंसे कभी एकान्तमें न मिले। किसी भी परपुरुषको अपना गुरु न बनावे। संत-महात्माका भी चरणस्पर्श न करे। उसके लिये तो पति ही सब-कुछ है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ।

प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः ॥

(बाह्यीकिरामायण, ७।४८।१७)

‘स्त्रीके लिये पति ही देवता, पति ही बन्धु तथा पति ही गुरु है; अतएव प्राणोंकी बाजी लगाकर भी उसे विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये।’

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ४।४८)

‘पति ही देवता, पति ही गुरु तथा धर्म, तीर्थ और व्रत भी पति ही है। इसलिये सब कुछ त्याग कर स्त्रीको एक पतिकी ही भलीभाँति पूजा-सेवा करनी चाहिये।’

‘पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम् ।’

(शातातप०)

‘एकमात्र पति ही स्त्रीका गुरु है।’

इस प्रकार पति और पत्नी अपने-अपने धर्मका पालन कर, एक-दूसरेके धर्म-पालनमें सहायता कर, एक-दूसरेका यथोचित पूजन-सम्मान कर, एक-दूसरेको सुख पहुँचाकर तथा हित-सम्पादन कर यहाँ जगत्‌में सुख भोगें और इस सबको भगवान्‌की सेवाके भावसे—भगवत्पूजनकी पवित्र भावनासे करके मानव-जीवनके चरम और परम लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त करें। शेष भगवत्कृपा। आपका—

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मंद करत सो करत भलाई

(आसुरी तथा दैवीसम्पदाके मूर्तिमान् उदाहरण)

कुछ ही समय पहलेकी सच्ची घटना है। जिन लोगोंका इस घटनासे सम्पर्क है, वे सभी जीवित हैं। बड़ी आश्चर्यजनक घटना है। यहाँ घटना संक्षेपमें ज्यों-की-त्यों दी जा रही है। केवल नाम बदल दिये गये हैं। में कपड़ेकी एक बड़ी दूकानमें कई कर्मचारी काम करते थे। मालिक सेठ श्री-जगन्नाथ बड़े सज्जन, गम्भीर तथा बुद्धिमान् पुरुष थे। दूकानमें एक रोकड़िया (केशियर) थे श्रीबालमुकुन्द तथा मुनीम थे श्रीहरनारायण। बालमुकुन्द इस दूकानमें सबसे पुराने आदमी थे, लगभग आठ वर्षसे सफलतासे काम करते थे। मालिकको उनके कामसे संतोष तथा उनकी ईमानदारीपर बड़ा विश्वास था। उनकी पहली स्त्रीका देहान्त हो गया था, तब मालिक श्रीजगन्नाथजीके बहुत कहने-सुननेपर इन्होंने गतवर्ष फिर विवाह किया था। लड़की अंगरेजी पढ़ी-लिखी थी, पर थी हिंदू-संस्कृतिकी सजीव नारीमूर्ति ! इनके पहली स्त्रीसे केवल एक लड़की थी, जो चौदह वर्षकी हो गयी थी और इसी साल तीन-चार महीने पूर्व उसका विवाह बड़ी सादगीके साथ एक सुयोग्य लड़केसे कर दिया गया था।

दूकानके पुराने मुनीम श्रीरामप्रसादजीका कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया था। उनकी जगह श्रीहरनारायण नामक एक व्यक्तिको रक्खा गया था। हरनारायणका स्वभाव अच्छा नहीं था और उनकी ईमानदारीपर भी लोगोंका संदेह था। यह बात उन्हें रखते समय भी सेठ जगन्नाथको मालूम हो गयी थी, पर एक निकटके वयोवृद्ध सम्बन्धीके आग्रहपर उनको रख लिया गया था। जगन्नाथजीने बालमुकुन्दसे कह दिया था कि 'हरनारायण नये आदमी हैं, कैसे हैं, कुछ पता नहीं, तुम जरा ध्यान रखना।' अतएव जगन्नाथजीके आदेशानुसार बालमुकुन्द हरनारायणकी गति-विधिपर थोड़ा ध्यान रखने लगे। यद्यपि वे बड़ी बुद्धि-मानीके साथ सब करते थे, पर हरनारायणने इस चीजको भाँप लिया और वे बालमुकुन्दको अपने पथका काँटा समझने लगे। दिन बीतते गये। एक दिन जमादारने भुगतानके

छियालीस सौ रुपयेके नोट लेकर श्रीबालमुकुन्दको दिये। बालमुकुन्दने नोट लेकर दूकानके नामके छपे एक लिफाफेमें डाल लिये और हाथका हिसाब लिखकर नोटोंको तिजोरीमें रख देंगे—ऐसा सोचकर लिफाफेको अपने पास रख लिया। दैवकी गति—कुछ समय बाद उनके घरसे नौकरने आकर कहा कि 'बहूजीके पेटमें बहुत दर्द है, आपको डाक्टरको साथ लेकर बुलाया है।' बालमुकुन्द जल्दीमें लिफाफेको वहीं भूल गये और चल दिये। डाक्टरको साथ लेकर घर पहुँचे। पत्नीको बड़ा दर्द था। इलाजमें लग गये। लिफाफेकी बात याद रही ही नहीं। रातभर चिकित्सा-सेवामें बीता, पिछली रातको दर्द मिटनेपर पत्नीको नींद आयी, तब वे सोये।

इधर, नये मुनीम हरनारायणने देखा कि लिफाफा वहीं छूट गया है। मुनीमकी बैठकी ठीक बालमुकुन्दके बगलमें ही थी। उनकी आदत चोरी-बेईमानीकी थी ही। मन ललचाया। साथ ही उन्होंने यह सोचा कि 'रुपये अनायास ही अपने हाथ लग जायेंगे। किसीको संदेह भी न होगा और इस काण्डको आसानीसे बालमुकुन्दके मत्थे मँढ़कर उसको सबक भी सिखा दिया जायगा तथा मालिककी खैरखाही भी प्राप्त होगी। इस प्रकार एक ही ढेलेसे दो शिकार सहज ही हो जायेंगे।'।

हरनारायणने चुपकेसे लिफाफा उठाकर अपने झोलेमें डाल लिया और शामको घर ले गये। किसीको पता भी नहीं चला कि क्या हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल दूकानपर बालमुकुन्द कुछ देरसे आये। रातके जगे थे तथा पत्नीके दवा-पथ्यकी व्यवस्था करनी थी। इसी बीच, हरनारायण मौका पाकर मालिकको अंदर एक कोठरीमें यह कहकर ले गये कि 'एक बहुत जरूरी बात अकेलेमें कहनी है।' एकान्तमें ले जाकर हरनारायणने हाथ जोड़कर कहा—'सेठजी ! क्या बताऊँ, जमाना बहुत खराब आ गया है। इसीसे भले आदमीपर बहम किया जाता है और लफंगे बगुले भगत आदर-सम्मान पाते हैं। कल बालमुकुन्द, जिसको आपने बड़ा सच्चा ईमानदार मान रक्खा है, मेरी आँखोंके सामने नोटोंका बंडल छिपाकर अपने घर ले गया। चालाकीसे

घरसे नौकरको बुला लिया और पत्नीकी बीमारीका बहाना करके रुपयोंको सुरक्षित रखनेके लिये घर चला गया। अबतक लौटा भी नहीं है। आप सीधे आदमी हैं, आपको क्या पता कि गरीब भेड़की खालमें भेड़िया छिपा बैठा है। ये ध्यान लगाकर मछलीकी ताकमें ध्यानस्थ-से बैठे बगलोंकी भाँति बड़े धोखेबाज होते हैं। मैं उस समय तो बोला नहीं, अब मुझसे आपको आँखों-देखी घटना बिना बताये रहा नहीं गया। 'हाथ कंगनको आरसी क्या?' उसके आनेपर आप सब—सुन-समझकर अपना कर्तव्य सोचियेगा।'

सेठ जगन्नाथ तो सुनकर सन्न रह गये। उनका मन मान ही नहीं रहा था कि बालमुकुन्द भी कभी ऐसा कर सकता है, पर ये आँखों-देखी घटना बताते हैं। जगन्नाथ उखड़े नहीं, बिना कुछ बोले चुपचाप दूकानपर आकर अपनी जगह बैठ गये। थोड़ी ही देर बाद बालमुकुन्दने आकर सेठजीको प्रणाम किया और पत्नीकी बीमारीके सब समाचार सुनाकर देरसे आनेका कारण बताया। जगन्नाथजी कुछ नहीं बोले।

बालमुकुन्दने जाकर अपनी रोकड़ सँभाली। जमादारने छियालीस सौ रुपयेके नोट भुगतानके लाकर बालमुकुन्दको दिये थे। रुपये कच्ची रोकड़में जमा थे। बालमुकुन्दको बात याद आ गयी कि वे नोट यहीं छोड़ गये थे। फिर भी, संदेह निकालनेके लिये तिजूरी खोलकर देखी। उसमें नोट रक्खे होते तो मिलते। बालमुकुन्दका चेहरा उड़ गया। उनके नीचेसे मानो धरती सरक गयी। जगन्नाथजी बड़ी गम्भीरतासे उसकी ओर देख रहे थे और हरनारायण मृदु मुसकानके साथ। बालमुकुन्दको बहुत चिन्तित देखकर मालिक जगन्नाथजीने पूछा—'क्या बात है? कैसे तुम धवराये-से हो रहे हो?' इसपर बालमुकुन्दने सारी घटना सुना दी। जगन्नाथ कुछ बोलने जा रहे थे, उससे पहले ही हरनारायण बोले—'बालमुकुन्दजी! आप घर ले गये थे न? वापस लाना भूल गये हों तो, कोई बात नहीं, अब ले आइये।' सुनते ही बालमुकुन्दको बड़ा ही दुःख हुआ। उन्होंने कहा—'मैंने तथा मेरे बाप-दादोंने कभी दूसरेकी एक कौड़ी-पर भी कभी मन नहीं चलाया। हमारे लिये पराया पैसा गोमांसके तुल्य है। आप पता लगानेमें मेरी सहायता करते, यह तो दूर रहा, उल्टे मुझको ही चोर बना रहे हैं? भगवान्से कुछ तो डरिये।' हरनारायण बोले—'ये भगवान्-

से डरने तथा परधनको गोमांस बतानेवाले ही तो ऐसा काम आसानीसे कर सकते हैं और करते हैं। मैं सुनी-सुनायी बात नहीं कहता। स्वयं मैंने अपनी आँखोंसे नोटोंको छिपाकर आपको घर ले जाते देखा है। अब आपकी इस नकली साधुताका असली रूप सामने आ गया है। चुपचाप जाइये और घरसे नोट ले आइये, जिसमें आबरू बनी रह जाय।'

यह सुनकर बालमुकुन्द तो मृतवत् हो गये। क्षोभ तथा दुःखकी आगसे उनका हृदय जलकर क्षणोंमें ही खाक-सा हो गया। जगन्नाथजी उठकर बालमुकुन्दको भीतर ले गये और समझाकर बोले—'भैया बालमुकुन्द! मुझे न तो स्वप्नमें भी तुमपर संदेह था, न अब भी मेरा मन इस बातको मानता है कि तुम नोट ले गये हो; परंतु हरनारायण कहता है कि मैंने आँखोंसे देखा है। इसलिये संदेहकी कुछ गुंजाइश हो जाती है। कञ्चन-कामिनी ऐसी चीजें हैं कि इनपर अच्छे-अच्छे लोगोंका मन कभी-कभी ललचा जाता है; सो यदि तुमसे भूल हो गयी हो तो, अभी तो तुम घर चले जाओ। रातको मुझे लाकर घरपर दे देना। मैं सारी बात सुधार दूँगा।'

इसपर बालमुकुन्द फुफका कर रो पड़े। उन्होंने बार-बार ईश्वरकी शपथ खाकर कहा कि 'मैंने जो कुछ आपसे कहा है, उसमें रत्तीभर भी मिथ्या नहीं है। मैंने यहीं नोट अपनी दूकानके छपे लिफाफेमें डालकर रक्खे थे और जाते समय मैं उन्हें तिजूरीमें रखना भूल गया था। कौन ले गया—मैं नहीं कह सकता। बिना देखे मैं किसीका नाम दूँ भी कैसे? पर आपने कहा था कि हरनारायणजीकी कुछ शिकायत आपने सुनी थी। आप इसपर सोचियेगा। मैं क्या कहूँ। मैं तो अपराधी हूँ ही। आप जो उचित समझें, सो कीजिये। पुलिसमें दीजिये, जेल भिजवाइये, मरवाइये या कुछ भी कीजिये, ईश्वर सब देखते हैं।'

जगन्नाथ बड़े गम्भीर तथा बुद्धिमान् व्यक्ति थे। उनको बालमुकुन्दपर संदेह नहीं हो रहा था और हरनारायणकी बातको झूठी बतानेका साहस भी नहीं होता था। उन्होंने सोचा—'जल्दीमें कुछ नहीं करना है। सोचकर करेंगे।' वे दूकानपर आकर बैठ गये और बालमुकुन्दसे बोले—'तुम घर जाओ। पत्नीकी देखभाल करो। कल सबेरे मुझसे घरपर मिलना।' बालमुकुन्द अत्यन्त क्षोभ, विषाद-भरे

हृदयसे तथा लज्जासे मस्तक नीचे किये चले गये। पीछेसे जगन्नाथजीने हरनारायणसे कहा—‘कल सोचकर व्यवस्था करेंगे। मेरा मन मान तो नहीं रहा है; पर जब आपने आँखसे देखा है, तब असत्य भी कैसे कहा जाय? मैं सोच रहा हूँ—कैसे क्या किया जाय?’ हरनारायणने कहा—‘आप बड़े धैर्यवान् पुरुष हैं; भला इसमें सोचनेकी क्या बात है। खैर, जैसी आपकी मर्जी! मैंने तो आपका नमक खाया, इसका बदला चुका दिया। अब आप जानें।’ जगन्नाथजीने कोई उत्तर नहीं दिया। शामको सब अपने-अपने घर चले गये।

उधर बालमुकुन्द आकर पत्नीके सामने रो पड़े। उन्होंने सारी घटना सुनायी। बालमुकुन्दकी पत्नीके पेटका दर्द मिट चुका था, कमजोरी थी। पर वह पतिको दुखी देखकर उठ बैठी और बोली—‘स्वामिन्! आप इतना दुखी क्यों होते हैं? मेरे पिताजी गोरखपुरके ‘कल्याण’को वर्षोंसे मँगाते हैं। मैं भी उसे पढ़ा करती थी। मैंने कल्याणमें पढ़ा है कि ‘जो ईश्वरके सामने अपराधी है, वही सच्चा अपराधी है। कोई यदि ईश्वरके सामने सच्चा है तो सारे लोग चाहे उसे अपराधी बताकर उसको बदनाम करें, उसको सजा दी जाय, मारा जाय, पर वह अपराधी नहीं है। अन्तमें सत्यकी विजय होगी—निश्चित होगी। उसपर जो बदनामी, सजा, मार आदिका कष्ट आया, यह उसके किसी पूर्वकृत कर्मका—जो प्रारब्ध बनकर अपना फल भुगता रहा है—अवश्यम्भावी परिणाम है। हम जब भगवान्के सामने सच्चे हैं तो सच्चे ही रहेंगे। यह जो कष्ट आया है, यह प्रारब्धका भोग हो रहा है। कर्म कट रहे हैं और श्रीहरनारायणने आपपर जो मिथ्या आरोप लगाया है, यह उसने भीषण पाप किया है। आप तो चाहे बदनामी पाकर ही छूट जायँ, पर वह तो इस पापका फल भोगेगा ही। जो इस प्रकार अपने आप जान-बूझकर पाप-कर्म करके अपना भविष्य बिगाड़ता है, वह अवश्य ही भूल हुआ है, पागल है। इसीलिये अपने गिरनेके लिये आप ही गड्ढा खोद रहा है। अतः वह दयाका पात्र है। हमें भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे सत्यका वे प्रकाश करें और उस भूले हुए हरनारायणपर दया करके उसे क्षमा कर दें।’ इस प्रकार उस सच्ची हितैषिणी भगवत्परायणा देवीने पतिको समझाकर आश्वासन दिया। तदनन्तर दोनोंने मिलकर भगवान्-

से प्रार्थना की। फिर भागवतोक्त गजेन्द्रमोक्षके ग्यारह-ग्यारह पाठ किये और तदनन्तर दोनों इस मन्त्रका जाप करने लगे—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।

प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

यही जाप करते-करते वे रातको बिना ही कुछ खाये-पीये सो गये।

इधर जगन्नाथजीके शुद्ध मनने यह निश्चय किया कि बालमुकुन्द चोर कदापि नहीं है। हरनारायणकी ही शायद नीयत बिगड़ी हो। पर अच्छी तरह सोचकर ही कुछ किया जायगा। वे महाभारतके चिरकारीका प्रसङ्ग पढ़ चुके थे।

भगवान्का विधान—रातको ही किसी प्रकार चोरोंको सुराग लगी। हरनारायण और उसकी पत्नीमें जो परस्पर बात हो रही थी, उसे चोरोंमेंसे एकने सुन ली, वह वहाँ आया हुआ था। वह अपने साथियोंको बुला लाया और वे रात्रिके पिछले पहर हरनारायणके घरपर आ पहुँचे। दुर्भाग्यसे उस समय हरनारायणकी पत्नी जग रही थी। चोरोंने किंवाड़ खटखटाये। उसने उठकर बिना सोचे-समझे ही किंवाड़ खोल दिये। चोरोंने अंदर घुसकर नोट खोजने शुरू किये। तक्रियेके नीचे ही नोटोंका लिफाफा पड़ा था, उसे ज्यों-का-त्यों उठाकर चोर भागने लगे। हरनारायणकी पत्नीने चुपकेसे चुटकी काटकर पतिको जगा दिया। उसके उठते ही चोरोंने उसके पेटमें छूरा घोंप दिया, वह और चेष्टा करने लगा तो दो-तीन छूरेके वार और कर दिये। इतनेमें हरनारायणका पंद्रहवर्षीय लड़का कमल जग पड़ा, जो पास सोया था। उसके सिरपर एक चोरने जोरसे लाठी मार दी। वह चीखकर गिर पड़ा। हरनारायण तो घायल होकर पहले ही गिर गया था। हरनारायणकी स्त्री पीछे जाकर कहाँ छिप गयी। चोर नोट लेकर भागे।

चोरोंके भागते ही हरनारायणकी स्त्री आकर जोरसे चिल्लायी। आस-पासके लोग जग पड़े; चोर-चोरकी आवाज सुनकर कुछ लोग उनके पीछे दौड़े। कुछ लोग हरनारायण और उसके पुत्रको सँभालने लगे। सौभाग्यवश पुलिसका एक दस्ता रात्रिकी गश्त लगाकर उसी रास्ते लौट रहा था, जिस रास्ते चोर भागे जा रहे थे। पुलिसवालोंने उन चोरोंको तथा उनके पीछे-पीछे चोर-चोर चिल्लाते हुए दौड़नेवाले

लोगोंको देखकर चोरोंको घेरकर पकड़ लिया। उनके पास नोटोंका नाम छपा हुआ लिफाफा था, जिसमें छियालीस सौके नोट थे। चोरोंके कपड़ोंपर खूनके दाग तथा उनके पास छूरे तथा लाठी भी मिले। पुलिस चोरोंको थाने ले गयी। आस-पास हल्ला मच गया। पास ही श्रीबालमुकुन्दका घर था, वे भी जागकर भागे आये। पीछे-पीछे उनकी पत्नी भी आ गयी। उन्होंने आकर सबसे पहले हरनारायण तथा उनके लड़केकी गम्भीर हालत देखी। पत्नीने कहा—‘स्वामिन् ! जरा भी विचार न कीजिये। तुरंत इन्हें अस्पताल पहुँचाइये, जिससे इनकी जान बचे। इन्होंने हमारा बुरा किया सो वह तो हमारे कर्मका फल था। ये बेचारे सचमुच दयाके पात्र हैं।’ पत्नीकी बात सुनते ही बालमुकुन्दके मनमें सात्त्विक उत्साह जाग उठा। दो-तीन पड़ोसियोंकी सहायतासे उन्हें वे गाड़ीमें डालकर अस्पताल ले गये। वहाँ उनका उपचार किया गया। बताया गया—‘कमलकी चोट जल्दी ठीक हो जायगी; क्योंकि छूरा अंदरतक नहीं पहुँचा है; पर हरनारायणके सिरकी चोट गहरी है। इसमें समय लगेगा। बच भी सकते हैं, नहीं भी।’ बालमुकुन्दने कहा—‘डॉक्टर साहेब ! जिस किसी भी तरह इनको बचाइये। मैं खर्च दूँगा।’ अस्पतालमें व्यवस्था हुई। बालमुकुन्दकी पत्नीने अपने हाथके सोनेके कड़े दिये। यही गहना एकमात्र बचा था। बाकी सब लड़कीके विवाहमें बेचकर लगा दिया गया था। कड़ोंके चार सौ सत्तर रुपये मिले। एक विश्वस्त पड़ोसीको देकर बालमुकुन्दने दोनों पिता-पुत्रके लिये दवा तथा फल-दूध आदिकी व्यवस्था कर दी।

सेठ जगन्नाथको पता लगा। उन्होंने थानेमें जाकर देखा तो वही दूकानके नामका लिफाफा और उसमें छियालीस सौके नोट थे। अब तो जगन्नाथजी अच्छी तरह जान गये कि यह सब हरनारायणकी ही करनी-करतूत थी। चोरोंपर केस चला; उन्हें सजा हुई। पर इसके पहले यह प्रमाणित करना पड़ा कि नोट हरनारायणके पास कहाँसे आये। न घरमें थे, न आमदनी थी। बताया गया कि श्रीजगन्नाथजीके दूकानके छियालीस सौ रुपये जो नहीं मिल रहे थे, वे ही ये हैं। बालमुकुन्दने बयानमें कहा कि ‘रुपये तो वे ही हैं, पर हरनारायणने चोरी नहीं की। रुपये भूलसे मैं घर ले गया था। मैंने ही फिर ये नोट हरनारायणजीको दिये थे कि वे कल सबेरे दूकानपर पहुँचा देंगे। अतएव ये

रुपये सेठ जगन्नाथजीके ही हैं।’ इस बयानपर जगन्नाथजीने कहा कि ‘मैं भी ऐसा ही मानता हूँ।’ बयानोंपर कोर्टने विश्वास किया। रुपये जगन्नाथजीको वापस मिल गये। जगन्नाथजी बड़े उदार थे। उन्होंने पाँच सौ रुपये और मिलाकर इक्यावन सौ रुपये बालमुकुन्दको इनाम दिये। बालमुकुन्दने कहा कि ‘यद्यपि हरनारायणजीने भूल की थी, पर उनपर बड़ी विपत्ति आयी हुई है। वे पिता-पुत्र अस्पतालमें हैं, घरपर उनकी पत्नी अकेली हैं। अतएव ये रुपये मैं उनको देना चाहता हूँ। मेरा तो भगवान्ने कलङ्क धो दिया, यही बहुत है।’ सेठ जगन्नाथ बालमुकुन्दके इस व्यवहारसे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने बालमुकुन्दके नाम ग्यारह हजार रुपये जमा करा दिये और उन्हें अपने फार्ममें १० प्रतिशत मुनाफेका हिस्सेदार बना लिया। वे इक्यावन सौ रुपये हरनारायणजीकी पत्नीको दे दिये गये।

कमल डेढ़ महीने और हरनारायण साढ़े तीन महीने अस्पताल रहकर अच्छे होकर घर आ गये।

अस्पतालमें दोनोंकी देख-भाल तथा खान-पान आदिकी व्यवस्था शुरूसे आखिरतक बालमुकुन्द करते रहे। उनकी पत्नी हरनारायणकी पत्नीके पास जाकर उन्हें साग्वना देती रही। हरनारायण तो यह सब देख-सुनकर अपने अपराधके लिये लजासे गड़े जा रहे थे और बालमुकुन्दके प्रति उनके मनमें अपार कृतज्ञताका समुद्र उमड़ा आ रहा था। वे अपनी राक्षसी वृत्तिके साथ बालमुकुन्द-दम्पतिकी दैवी वृत्तिका मिलान करके पश्चात्तापकी अग्निमें अपने पापोंको जला रहे थे। वे बालमुकुन्दके सामने नजर उठाकर नहीं देख पाते थे। बालमुकुन्दने नम्रता और प्रेमसे बार-बार समझा-समझाकर उनकी झोंप दूर की। जो भी इस घटनाको सुनता, वही भगवान्के न्याय, जगन्नाथजीकी उदारता तथा श्रीबालमुकुन्द और उनकी पत्नीकी साधुताकी बार-बार प्रशंसा करता था।

—हजारीलाल सोनी

(२)

गरीब नाविककी सत्यनिष्ठा

यह सुन्दरवन अञ्चल चोरी-डकैती तथा मार-पीट आदि अपराधोंके लिये विख्यात है। फिर भी यहाँके एक गरीब नौकावाले ईमानदारीका जो परिचय दिया, उसे देखकर बड़ी ही प्रसन्नता होती है।

गत मासमें कलकत्ता राजाकटरासे हुगलीनिवासी बाबू अजितकुमार घोषका माल भूलसे हुगली जानेवाले ट्रान्सपोर्टमें न देकर श्यामबाजार जानेवाली ट्रकमें रखवा दिया गया। श्यामबाजारसे वह माल भूलसे गणेशपाल नामक नौकावालेकी छोटा मौल्लाखाली जानेवाली नावमें चढ़ा दिया गया। नावके गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेपर पता लगा कि यह माल यहाँके किसी व्यवसायीका न होकर अन्य कहींके किसी व्यापारीका है। मालमें एक बोरा कपड़ा, एक बोरा वाल्टी तथा दो हजार रुपयेकी दूसरी चीजें थीं। कुछ लोगोंने गणेशपाल नौकावालेसे कहा कि 'माल बेचकर पैसे बना लो। पर जिनपर भगवान्की कृपा होती है, उनकी बुद्धि नहीं बिगड़ती। वह नित्य निर्मल रहती है। गणेशपालकी बुद्धि विचलित नहीं हुई। उसने एक पैसेकी चीज भी नहीं ली और अखबारमें पैसे देकर विज्ञप्ति छपवा दी कि 'भूलसे किन्हींका यह माल मेरी नावमें यहाँ आ गया है, जिनका हो, वे प्रमाण देकर ले जायँ।' इसके सात दिन बाद ही उक्त मालके असली मालिक बाबू अजितकुमार घोषने वहाँ आकर अपना पूरा माल सँभालकर ले लिया। उन्हें अत्यन्त गरीब नौकावालेकी इस ईमानदारी तथा लगनको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे गणेशपालको १०१) देने लगे तथा उसे अपने साथ हुगली चलनेको कहा। पर गणेशपालने यह कहकर रुपये नहीं लिये कि 'मैंने कोई उपकार नहीं किया कि मैं रुपये लूँ। अपनी ईमानदारीकी रक्षामें इनाम कैसा?' अन्तमें सबके बहुत आग्रहपर उसने उतने पैसे लिये जितने अखबारमें विज्ञप्ति छपवानेपर खर्च हुए थे।

गणेशपाल इतना गरीब है कि दोनों वक्त पेट भरकर भोजन भी उसके घरवालोंको नहीं मिलता। ऐसी गरीबी और अभावभरे जीवनमें अनायास मिले हुए दूसरेके पैसे-पर मन न चलाना एक विशेष महत्त्व रखता है। लोग तो बहुत पैसेवाले होकर भी पराया हक मारते हैं और चोरियाँ करते हैं; पर इस दीन नाविककी निष्ठा देखकर यह मनमें आता है कि इस अर्थपैशाचिकताके युगमें भी ऐसे अपनी सत्य निष्ठापर स्थित पुरुष हैं।

—केशरीचन्द्र भूतड़ा

(३)

ज्वरनाशक अनुभूत सिद्ध मन्त्र

यह मन्त्र मेरा गत बीस वर्षोंका अनुभूत है; अतः

जनकल्याणके उद्देश्यसे इसे 'कल्याण' में प्रकाशित करवा रहा हूँ। आशा है—'कल्याण' के पाठक इससे लाभ उठायेंगे। यह मन्त्र ज्वरनाशके लिये 'रामबाण' है।

मन्त्र—श्रीकृष्णबलभद्रश्च प्रद्युम्न अनिरुद्ध च।

ऊषास्मरणमात्रेण ज्वरव्याधि विमुच्यते॥

प्रयोग—मन्त्रको असली अष्टगन्धसे कागजपर लिखकर धूप देकर ताबीजमें डालकर गलेमें बाँधनेसे हर प्रकारके ज्वर दूर होते हैं। साथ ही इसका प्रतिदिन जप भी करना चाहिये। जप करना तथा गलेमें बाँधना दोनों ही काम करने चाहिये। असली अष्टगन्ध न मिल सकनेपर मुझे पत्र लिखें। मैं पता लिख भेजूँगा।

—श्रीमोतीराम जगियासी साधू

ब्लाक नं० ३३६, उल्लासनगर न० २

(जिला थाना)

(४)

मधुमेहकी अचूक दवा

मधुमेह रोग-नाशका मेरा यह अनुभूत प्रयोग है। मैं स्वयं बड़े हुए मधुमेहका रोगी था। इस प्रयोगसे मेरा वह रोग जाता रहा। सात वर्षसे आजतक मेरे मूत्र तथा रक्तमें कोई दोष नहीं पाया गया। इसीलिये लोककल्याणार्थ यहाँ लिख रहा हूँ।

बड़े आकारके पाँच सेर करेले (हरी सब्जी) ले। उन्हें लम्बे दावसे बीचोबीच काटकर एकके दो-दो टुकड़े कर लिये जायँ। फिर, किसी कपड़ेपर उन्हें सूखनेके लिये बिछा दिया जाय। ध्यान रहे उन्हें छायामें सुखाना है। धूप बिल्कुल नहीं लगने देनी चाहिये। इनमेंसे आधे सूख जायँगे और आधे सड़ जायँगे। जो अच्छी तरह सूख जायँ, उनका दानेदार छिलका चाकूसे रगड़कर उतारकर उसे पीसकर बारीक कर लिया जाय। यह बारीक चूर्ण एक तोला प्रातः काल खाली पेट और एक तोला रात्रिको सोनेसे पहले पानीके साथ लेना चाहिये। १५ दिन या एक मास लेनेसे रोग नष्ट हो जाता है। मधुमेह रोगसे आगे चलकर हृदयपर आघात (Heart-attack) तथा रक्तचापकी वृद्धि (Blood-pressure) रोग हो जाते हैं तथा सृजनात्मक शक्तिपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः इस रोगका नाश बहुत आवश्यक है।

उपर्युक्त प्रयोग करते समय प्रतिदिन कम-से-कम एक माला—‘हरे राम हरे राम’—(षोडशनाम) का अथवा गायत्री मन्त्र का यथाधिकार जप करना चाहिये । जो सज्जन इस विषयमें कुछ पूछना चाहें, वे मुझे पत्र लिखकर पूछ सकते हैं ।

—मनोहरलाल अग्रवाल, जे० पी०
‘रामशरणम्’, १८ बाँ मार्ग
चेम्बर, बम्बई ७१

(५)

रक्तचापकी दवा—एक अद्भुत बूटी *

जटामासीका उपयोग निद्रा लानेवाली तथा हृदयको तात्कालिक बदलनेवाली एक अच्छी ओषधिके रूपमें किया जाता है । आयुर्वेदमें जटामासीका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे पाया जाता है । बड़े हुए रक्तचापको घटानेमें तथा हृदयको स्थायी बल देनेमें इसका प्रभाव अद्भुत है । यह शरीरके अङ्गोंमें उठनेवाले आक्षेपोंको दूर करती है तथा स्नायविक दौर्बल्यकी अवस्थामें शक्तिवर्द्धकके रूपमें काम करती है ।

यूरोपके सबसे प्राचीन ग्रन्थ हिप्पोक्रेटके औषधविधान (फार्मकोपिया) में भी इसका उल्लेख है । इसका ज्ञान सर्पगन्धासे भी पहले लोगोंको हुआ, ऐसा कहा जाता है । बॉवरद्वारा प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थोंमें इस सुगन्धित बूटीका उल्लेख है । यह हस्तलिखित ग्रन्थ वास्तवमें अत्यन्त प्राचीन है । खोतान (पूर्वीपाकिस्तान) के कच्चा नामक स्थानमें प्रवास करते समय मेजर जेनरल एच० बॉवरको वहाँके एक निवासीने उपहारके रूपमें यह बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ दिया था, जो अबतक पृथ्वीके नीचे गड़ा पड़ा था । मेजर जेनरल बॉवरने अपनी ओरसे उन्हें बंगालकी ‘रायल एशियाटिक सोसाइटी’ के तत्कालीन सभापतिको भेंट कर दिया । डा० हार्नल कुछ वर्षोंके कठिन परिश्रमके बाद उस हस्तलिखित ग्रन्थको पढ़नेमें सफल हुए । पीछे वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ ।

कहा जाता है कि कच्चाके पास किसी मठमें साधुओंके द्वारा समय-समयपर यह हस्तलिखित ग्रन्थ लिपिबद्ध हुआ था । उसमें ओषधि-गुण-सम्पन्न बूटियों, पासेके द्वारा भविष्य-

कथनकी विधि, मन्त्रोंके द्वारा सर्प-दंशकी चिकित्सा आदि विषयोंका वर्णन है । आयुर्वेदके अनुसार जटामासीके गुण इस प्रकार हैं—यह रोषक, कटु और स्वादमें मीठी होती है । यह वात, पित्त और कफ—इन तीनोंका शमन करनेवाली है । शरीरकी जलनको शान्त करती है तथा कुछ रक्तमें विष-प्रवेश एवं विसर्पको अच्छा करती है । त्वचापर चन्दनकी तरह लगानेपर यह उसको कोमल बनाती है, ज्वरका नाश करती है तथा ऊपरी चर्मरोगोंको दूर करती है ।

यह सदा-बहार बूटी है । इसका पृथ्वीके नीचे रहनेवाला अंश ही ओषधिके रूपमें प्रयुक्त होता है । वह अंगुली-जितना मोटा और भूरे-से-रंगका होता है । वह सर्वत्र छोटे-छोटे रोमरूपी मूलोंसे भरा रहता है । इसमेंसे एक मन्द मधुर सुगन्ध निकलती है ।

हिमालय-प्रदेशमें यह प्रचुरतासे उत्पन्न होती है । पश्चिम बंगालके गङ्गातटवर्ती स्थलोंमें भी यह प्राप्त होती है । संस्कृतमें इसे जटामासी, भूतजटा, जटिला तथा तपस्वी कहते हैं ।

इसको चूर्णरूपमें १ अथवा २ चायवाले चम्मचकी मात्रामें दे सकते हैं या काढ़ेके रूपमें शहदके साथ दे सकते हैं । काढ़ा बनानेके लिये थोड़ा-सा (गिनतीमें ३-४) लेकर किसी मिट्टीके बर्तनमें एक गिलास पानीके साथ तबतक उबालना चाहिये जबतक पानी जलकर आधा न रह जाय ।

सामर्थ्यसे अधिक श्रम करनेके कारण जिनको अच्छी या पूरी नींद नहीं आती, घुमटा या चक्कर आते हैं, स्नायविक दुर्बलता अनुभव होती है, उनको फिरसे शक्ति-दान देनेमें यह एक आदर्श ओषधि है ।

आधेसे एक तक चायकी चम्मच भर जटामासीका मधु या मिश्रीके घोलके साथ सेवन रक्तचापको ठीक करके अभीष्ट सामान्य स्तरपर बनाये रखनेमें बड़ा उत्तम कार्य करता है । इस प्रयोगसे हृदयरोगोंमें भी अच्छा लाभ होता है ।

स्वेत कृष्माण्ड, शतमूली अथवा ब्राह्मीके रसके साथ जटामासीका सेवन उन्माद रोगमें अच्छा प्रभाव दिखाता है । जटामासी निश्चय ही अच्छी नींद लानेवाली ओषधि है । जटामासीका बालोंपर भी आश्चर्यजनक प्रभाव होता है ।

—श्रीजपेशदास गुप्त

‘कल्याण’का जनवरी सन् १९६९ का विशेषाङ्क

‘परलोक और पुनर्जन्माङ्क’

(परलोक और पुनर्जन्मके विषयमें अति अद्भुत विवेचन)

इस अङ्कमें—‘पुनर्जन्मका स्वरूप और उसके हेतु’, ‘जीवन और मृत्युरहस्य’, ‘जन्मान्तर-निरोधके उपाय’, ‘मृत्युविज्ञान’, ‘जन्मान्तररहस्य’, ‘स्वर्ग-नरककी वास्तविकता और उसका वैज्ञानिक आधार’, ‘जन्म-मृत्युके प्रवाह-की निवृत्ति’ तथा ‘आधुनिक भौतिकताप्रधान जगत्की पुनर्जन्म-सिद्धान्तोन्मुखी प्रवृत्ति’ आदि जैसे गम्भीर विषयोंपर अधिकारी विद्वान्, अनुभवी तथा शास्त्रज्ञ महानुभावोंकी लेखनीसे लिखे हुए अनुभूत युक्तिपूर्ण तथा विवेचनात्मक निबन्धोंका दुर्लभ संकलन है। पृष्ठ-संख्या ६९६, रंगीन, सादे तथा प्रसंगानुसार रेखाचित्र—कुल ८० चित्र हैं। मूल्य रु० ९.०० तथा सजिल्दका रु० १०.५० मात्र। इच्छित महानुभाव कृपया आज ही मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर स्वयं ग्राहक बनें तथा अपनी प्रेरणासे अधिक-से-अधिक अपने इष्ट-मित्रोंको ग्राहक बनवाकर व्याभान्वित करें।

‘कल्याण’के चार प्राप्य विशेषाङ्कोंके मूल्यमें विशेष छूट

विशेषाङ्क	पृष्ठ-संख्या	चित्र बहुरंगे	दुरंग	इकरंग	रेखाचित्र	मूल्य रु०
(१) संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क	७०४	१७	१	६	१२०	७)५०
(२) धर्माङ्क	७००	१४	१	४	८१ सजि०	८)७५
(३) श्रीरामवचनामृताङ्क	७०४	९	१	१	६४	८)५०
(४) उपासनाङ्क	७००	१६	१		३४, यंत्र एवं	
					८ मुद्राएँ	९)००
	२८०८	५६	४	११	३०७	३३)७५

उपर्युक्त चारों विशेषाङ्क एक साथ मँगानेपर मूल्य २७) रुपये मात्र लिया जायगा। डाकखर्च हमारा होगा।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारतकी नामानुक्रमणिका

भूमिका-लेखक—डा० वामुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य अजिल्द २.५०, सजिल्द ३.५०, डाकखर्च १.८०।

इसमें महाभारतमें आये हुए लोक, द्वीप, देश, नगर, जनपद, समुद्र, नद, नदी, सरोवर, कुण्ड, तीर्थ, वन, पर्वत, देवता, देवी, मातृका, यक्ष, गन्धर्व, नाग, नक्षत्र, अप्सरा, राक्षस, असुर, दैत्य-दानव, ऋषि-मुनि, राजा, अन्यान्य मनुष्य, स्थान, वस्तु, पर्व आदिके नाम तथा कौन नाम कहाँ किस प्रसङ्गमें आया है, इसके उल्लेखसहित सबकी अनुक्रमणिका दी गयी है।

जबसे यह मासिक महाभारतके तीसरे वर्षके अन्तिम अङ्कमें निकली थी, तभीसे इसको अलग पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी माँग थी। एक प्रसिद्ध विद्वान्ने तो इसको महाभारतका ‘कल्पवृक्ष’ बतलाया था। इसकी भूमिका आदरणीय डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्० महोदयने लिखी थी।

महाभारतके अनुसंधानकर्त्ता विद्वानोंको तथा कौन कथा किस प्रसङ्गमें कहाँ है, यह जाननेकी इच्छावालोंको इससे विशेष सुविधा होगी। महाभारतके प्रेमी पाठकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क—‘अग्निपुराणाङ्क’

गताङ्कमें “कल्याण”का आगामी विशेषाङ्क—‘तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-अङ्क’ शीर्षक सूचना छपी थी, उसमें कहा गया था कि पूर्ण निश्चय हो गया तो लेखोंकी विषय-सूची ‘कल्याण’के जुलाईके अङ्कमें प्रकाशित की जायगी।” विषय-सूची बन भी गयी थी, परंतु इधर बहुत-से ग्राहकों एवं हितैषी सज्जनोंका कोई पुराण-अङ्क प्रकाशित करनेपर बहुत जोर रहा। दूसरे, ‘तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र’की सामग्रीका संग्रह, लेखोंके चुनाव, सम्पादन आदिमें भी अधिक समयकी आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव इस बार उक्त विशेषाङ्क न निकालकर ‘अग्निपुराणाङ्क’ प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है। अनुवादका शेष कार्य हो रहा है।

भारतीय वाङ्मयमें पुराण-साहित्य एक विशेष महत्त्वका स्थान रखता है। पुराणोंमें लोकोपकारिणी रत्नराशि भरी पड़ी है। उनमें अग्निपुराण तो संस्कृत-साहित्यका एक विश्वकोश ही है। इसमें प्रायः सभी विद्याओं, कलाओं, शास्त्रसिद्धान्तोंका विलक्षण वर्णन है। यह एक विभिन्न विषयोंकी जानकारी करानेवाला महान् संग्रह-ग्रन्थ है।

इस ‘अग्निपुराणाङ्क’में अग्निपुराण तथा पौराणिक महत्तासम्बन्धी कुछ लेख तथा विषयानुकूल चित्र भी रहेंगे। अग्निपुराणके सम्बन्धमें जिनके पास कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी हो, वे महानुभाव उक्त विषयपर लेख भेजनेकी कृपा करें।

—सम्पादक

गीताप्रेस-सेवादलका राजस्थानमें अकालसेवा-कार्य

गीताप्रेस-सेवादलकी ओरसे राजस्थान. बीकानेरमें अकालप्रस्त गौओंकी सेवाका कार्य अभी पूर्ववत् सुचारु-रूपसे चल रहा है। भगवान्की कृपासे तथा गोमाताके भाग्यसे तन-मन-धनसे सेवा करनेवाले महानुभाव बड़े उत्साहसे काम कर रहे हैं। वर्षा में इस बार देर हुई; इससे बड़ी चिन्ता थी। भगवत्कृपासे इधर कई जगह अच्छी वर्षा हुई है। भगवान् सर्वत्र शीघ्र वर्षा कर दें तो गौओं तथा मानवप्राणियोंकी प्राणरक्षा हो। मनुष्य स्वयं ही असहाय है, उसे किसीको दुखी देखकर हाथ-पैर हिलाना चाहिये, पर वह भगवान्की सहायताके बिना क्या कर सकता है। इसी दृष्टिसे अकाल-पीड़ित प्राणियोंकी सेवाके रूपमें यह नगण्य हाथ-पैर हिलाने भरका ही कार्य हो रहा है। जिन सहृदय सज्जनोंने इस कार्यमें धन देकर सहयोग दिया है और दे रहे हैं, उनके हम कृतज्ञ हैं।

गीताप्रेस-सेवादल, द्वारा गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगीता एवं श्रीरामायणकी आगामी परीक्षाएँ

आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनांक २३ व २४ नवम्बर, १९६० को एवं रामायणकी परीक्षाएँ दिनांक ४ व ५ जनवरी, १९७० को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदन-पत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दिनांक ३० अगस्त, १९६९ तक भेज देनेकी कृपा करें।

विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन,

पो० स्वर्गाश्रम, वाया ऋषिकेश (पौड़ी-गढ़वाल) उ० प्र०